दो 'प्रगतिशील' क़ानूनों की दास्तान

राज्य, जन-आंदोलन और प्रतिरोध

कमल नयन चौबे

उत्तर-उदारीकरण दौर में भारत के जंगलों और उसके आस-पास के इलाक़ों में दो महत्त्वपूर्ण और काफ़ी हद तक एक-दूसरे से अलग परिघटनाएँ सामने आयी हैं। इन इलाक़ों में जंगल के संसाधनों के निजीकरण की प्रक्रिया काफ़ी तेज़ी से आगे बढ़ी है।[1] लेकिन इसके साथ

---

[1] झारखण्ड, उड़ीसा और छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों ने निजी क्षेत्रों की कम्पनियों से कई समझौता पत्रों पर दस्तख़त किए हैं। मसलन देखें ऋतम्भरा हेब्बार (2006), 'फ़ॉरेस्ट बिल 2005 ऐंड ट्राइबल एरियाज़ : केस ऑफ़ झारखण्ड', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 41, अंक 48,* 2 दिसम्बर; गौतम नवलखा (2008). 'क्रिटिकल एप्रीसिएशन ऑफ़ प्लानिंग कमीशन एक्सपर्ट ग्रुप रिपोर्ट ऑन एक्स्ट्रीमिज़म', *सोशल चेंज : जर्नल ऑफ़ द कौंसिल ऑफ़ सोशल डिवेलपमेंट,* खण्ड

ही यहाँ वनाश्रित/आदिवासी[2] लोगों ने बहुत ही ज़ोरदार तरीक़े से इस प्रक्रिया का प्रतिरोध किया है। इस प्रतिरोध का एक बड़ा हिस्सा 'बेहतर' या 'प्रगतिशील' क़ानूनों के लिए संघर्ष से जुड़ा रहा है। सन् नब्बे के बाद के दौर में इन क्षेत्रों में दो ऐसे क़ानून लागू हुए, जिनकी माँग आदिवासी इलाक़ों में ज़मीनी स्तर पर काम करने वाले जनसंगठनों ने की थी। इन्हें हासिल करने के लिए इन जन-संगठनों ने लम्बा संघर्ष किया। इन्हें अमूमन 'प्रगतिशील' क़ानूनों का दर्जा दिया जाता है। यह माना जाता है कि ये क़ानून वनाश्रित समुदायों को जंगल की ज़मीन और इसके संसाधनों पर अधिकार देते हैं। ये दो क़ानून हैं : 1996 में संसद द्वारा पारित *पंचायत (अनुसूचित क्षेत्र विस्तार) अधिनियम (या पेसा) और 2006 में पारित अनुसूचित जनजाति और अन्य परम्परागत वन निवासी (वन अधिकार मान्यता) अधिनियम* (या वन अधिकार क़ानून)। इन क़ानूनों के लिए संघर्ष करने वाले संगठनों ने इन्हें 'ऐतिहासिक क़ानूनों' की संज्ञा दी।[3]

इस शोध-आलेख का मक़सद इस बात का विश्लेषण करना है कि उत्तर-उदारीकरण दौर में स्थानीय समुदायों को जंगल की ज़मीन या संसाधनों पर अधिकार देने वाले क़ानून बनने की व्याख्या कैसे की जा सकती है। क्या यह कहा जा सकता है कि इन क़ानूनों द्वारा राज्य ने स्थानीय समुदायों को झाँसा दिया है, उन्हें 'क़ानून' के दायरे के भीतर लाने में सफलता हासिल की है और अपना नियंत्रण क़ायम रखने का एक साधन पा लिया है? या इनके लिए संघर्ष करने वाले जनसंगठनों की तरह ही इन्हें ऐसे 'ऐतिहासिक क़ानूनों' की संज्ञा देनी चाहिए, जिनसे आदिवासी समुदायों के साथ हुए 'ऐतिहासिक अन्यायों' को ठीक किया जा सकता है? इस शोध-आलेख में मैं इन दोनों क़ानूनों के बनने की पृष्ठभूमि, उनके निर्माण के दौरान चलने वाले आंदोलन और बहस के अध्ययन के द्वारा इनके निर्माण के पीछे काम करने वाली राजनीति का विश्लेषण करना चाहता हूँ। इस परचे में मैंने इन क़ानूनों के लागू होने के अनुभवों का विश्लेषण नहीं किया है, लेकिन 'निष्कर्ष' में इस पहलू की ओर इशारा ज़रूर किया है।

यह आलेख मुख्य रूप से पाँच भागों में बँटा हुआ है। पहले भाग में भारत के जंगलों की स्थिति और इनमें प्रभावी क़ानूनों का ऐतिहासिक विश्लेषण किया है। इस संदर्भ में औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक दौर में हुए बदलावों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। दरअसल, परचे का यह भाग इन दोनों क़ानूनों को समझने के लिए एक ऐतिहासिक आधार उपलब्ध कराता है। परचे के दूसरे भाग में पेसा और तीसरे भाग में वन अधिकार क़ानून के बनने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इन भागों में इनके लिए चलने वाले आंदोलन और बहस तथा संसद द्वारा पारित क़ानून की सीमाओं और आलोचनाओं का भी विश्लेषण किया गया है। शोध-आलेख के चौथे भाग में क़ानून बनने की प्रक्रिया

38, अंक 3; इंडियन सोशल एक्शन फ़ोरम (2009). *स्वतंत्र जन पंचाट, झारखण्ड में वर्तमान विकास, विस्थापन और दमन पर एक रिपोर्ट, 7 और 8 फरवरी 2009,* राँची, झारखण्ड भारत; कोऑर्डिनेशन ऑफ़ डेमॉक्रैटिक राइट्स ऑर्गनाइज़ेशंस (सीडीआरओ) (2011), *लूट ऑफ़ द लैंड, लाइवली हुड ऐंड लाइफ़ : अ ज्वाइंट फैक्ट फ़ाइंडिंग इन द इंसिडेंट ऑफ़ क्राइम अगेंसट पीपुल ऑफ़ उड़ीसा,* दिल्ली, अक्टूबर; (2012). *आतंक के साये में आम झारखण्डी : झारखण्ड के सुदूर गाँवों में जनसंघर्ष और सैन्य दमन,* सितम्बर.

[2] आदिवासी और अनुसूचित जनजाति शब्द का प्रयोग अमूमन पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। लेकिन आदिवासी होने का दावा करने वाले सभी समुदाय अनुसूचित जनजाति श्रेणी में शामिल नहीं हैं। इसी तरह, बहुत से ऐसे समुदाय भी हैं, जो आदिवासी होने का दावा नहीं करते हैं, लेकिन वे जंगलों पर निर्भर हैं. बहरहाल, इस शोध-आलेख में आदिवासी/वनाश्रित या वन-निवासी शब्दों का प्रयोग उन समुदायों के लिए किया गया है, जो अपनी जीविका की ज़रूरतों के लिए जंगल की ज़मीन और इसके संसाधनों पर निर्भर हैं. जब तक अलग से न कहा जाए, तब तक इन्हें इसी अर्थ में समझा जाना चाहिए.

[3] बी.डी. शर्मा (2004), *द लिटिल लाइट्स इन टायनी मड-पॉट्स डिफ़ाय 50 इयर्स ऑफ़ एंटी पंचायत राज,* सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट, नयी दिल्ली (प्रथम प्रकाशन 1998) : 105-19; कमल नयन चौबे (2010), *भारत में आदिवासियों के वन भूमि अधिकारों का अध्ययन,* अप्रकाशित पीएच.डी शोध, राजनीति विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली : अध्याय 3.

की व्याख्या के लिए 'हाशिया समाज' या 'मार्जिनल सोसाइटी' की संकल्पना का प्रयोग किया गया है। इसके पाँचवें भाग में इस शोध–आलेख का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

औपनिवेशिक इतिहासकारों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि अंग्रेज़ों ने भारत में 'क़ानून का शासन' स्थापित किया और उन्होंने भारत के जंगलों को बर्बाद होने से बचा लिया। इसके विपरीत, बहुत से भारतीय विचारकों का मानना है कि अंग्रेज़ों ने अपने हितों के हिसाब से बहुत ज़्यादा और कई बार उल्टे रूप में क़ानूनों में बदलाव किया।

I

जंगल, स्थानीय समुदाय और क़ानून : इतिहास के आईने में

औपनिवेशिक शासन ने भारत के जंगलों और इसके आस–पास रहने वाले समुदायों पर अभूतपूर्व प्रभाव डाला। अंग्रेज़ों के आने से पहले भी शासक जंगलों में हस्तक्षेप करते थे, लेकिन औपनिवेशिक शासन के दौरान यह हस्तक्षेप बहुत ज़्यादा बढ़ गया। भारत के जंगलों और वहाँ रहने वाले लोगों पर अंग्रेज़ी शासन के प्रभावों के बारे में विद्वानों के बीच बहुत गहरा वाद–विवाद रहा है। औपनिवेशिक इतिहासकारों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि अंग्रेज़ों ने भारत में 'क़ानून का शासन' स्थापित किया और उन्होंने भारत के जंगलों को बर्बाद होने से बचा लिया।[4] इसके विपरीत, बहुत से भारतीय विचारकों ने इस तर्क को नकारा है कि अंग्रेज़ों ने भारत में 'क़ानून का शासन' स्थापित किया। इनका मानना है कि अंग्रेज़ों ने अपने हितों के हिसाब से बहुत ज़्यादा और कई बार उल्टे रूप में क़ानूनों में बदलाव किया।[5] अस्सी के दशक में अपने बेहतरीन शोध द्वारा रामचंद्र गुहा और माधव गाडगिल ने यह साबित करने की कोशिश की कि अंग्रेज़ों ने अपने साम्राज्यवादी हित पूरे करने के लिए ही जंगलों के बारे में अपनी नीतियाँ बनायीं।[6] बाद में, रिचर्ड ग्रोव ने अपने शोध द्वारा यह बताया कि दरअसल अंग्रेज़ी शासन के शुरुआती दौर में इकॉलज़ी के सवालों पर भी गहरा चिंतन हो रहा था। इनका मानना है कि गुहा और गाडगिल जैसे इतिहासकार इस बात की उपेक्षा करते हैं।[7] ग्रोव का शोध मुख्य तौर पर 1850 के दशक के पहले के घटनाक्रमों पर ध्यान देता है, जबकि गुहा और गाडगिल

---

[4] बी. रिबेनट्रॉप (1900), *फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश इंडिया,* कलकत्ता; ई. पी. स्टेबिंग (1926), *द फ़ॉरेस्ट्स ऑफ़ इंडिया,* खण्ड 3, जॉन लेन, लंदन.

[5] रणजीत गुहा (1963), *अ रूल ऑफ़ प्रॉपर्टी फ़ॉर बंगाल : ऐन एसे ऑन द आइडिया ऑफ़ परमानेंट सेटलमेंट,* मुत्तोह ऐंड कंपनी, पेरिस; उपेंद्र बख़्शी (1992), '" द स्टेट्स एमिसरी" : द प्लेस ऑफ़ लॉ इन सबॉल्टर्न स्टडीज़', पार्थ चटर्जी और ज्ञानेंद्र पांडेय (सम्पा.), *सबॉल्टर्न स्टडीज़ : राइटिंग्स ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड सोसायटी,* खण्ड 7, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली; अखिलेश्वर पाठक (2002), *लॉ, स्ट्रैटजीज़ ऐंड आइडियोलॅजीज़ : लेजिस्लेटिंग फ़ॉरेस्ट्स इन कोलोनियल इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

[6] दरअसल रामचंद्र गुहा और माधव गाडगिल ने अपनी सभी कृतियों में इसी विचार को आगे बढ़ाया है। मसलन, देखें, रामचंद्र गुहा (1983 क). 'फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट–ब्रिटिश इंडिया : अ हिस्टोरिकल ऐनालैसिस', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 18, अंक 44; (1983 ख). 'फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट–ब्रिटिश इंडिया : अ हिस्टोरिकल ऐनालिसिस', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 18, अंक 45; (1989). *द अनक्वायट वुड्स : इकलॅजिकल चेंज ऐंड पेज़ेन्ट रेज़िस्टेन्स इन द हिमालया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली; रामचंद्र गुहा और माधव गाडगिल (1989). 'स्टेट फ़ॉरेस्ट्री ऐंड सोशल कांफ्लिक्ट इन ब्रिटिश इंडिया', *पास्ट ऐंड प्रजेंट,* खंड CXXIII; माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा (1992), *दिस फ़िशर्ड लैंड : ऐन इकोलजीकल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[7] रिचर्ड ग्रोव (1995), *ग्रीन इम्पीरियलिज़्म : कोलोनियल एक्सपैंशन, ट्रॉपिकल आइलैण्ड इडेंस ऐंड द ओरिजिन्स ऑफ़*

1850 के बाद की स्थिति पर ध्यान देते हैं। बहरहाल, अमूमन इतिहासकारों में, जिनमें रिचर्ड ग्रोव भी शामिल हैं, इस बात पर सहमति है कि 1850 के बाद के दौर में अंग्रेज़ों की वन नीति के केन्द्र में उनका साम्राज्यवादी हित ही था।[8]

दरअसल, औपनिवेशिक शासन के दौरान दो-स्तरीय प्रक्रियाएँ चलीं। एक ओर, अंग्रेज़ों ने जनजातियों की अलग श्रेणी बनायी और उनके लिए कुछ अलग क़ानून भी बनाये। मसलन, उन्होंने 1874 में द *शेड्यूल्ड डिस्ट्रिक्ट ऐक्ट* लागू किया। इसमें बहुत से ज़िलों को 'अनुसूचित ज़िलों' का दर्जा दिया गया और उन्हें 'बहिष्कृत' और 'आंशिक रूप से बहिष्कृत' क्षेत्रों में बाँटा गया।[9] 'बहिष्कृत' क्षेत्रों में उत्तर-पूर्व के क्षेत्र शामिल किये गये, जबकि 'आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्रों' में देश के दूसरे भागों के आदिवासी इलाक़े शामिल किये गये। औपनिवेशिक शासकों ने इस तरह की व्यवस्था के लिए 'जनजातियों की भलाई' के तर्क का प्रयोग किया। दरअसल, इस तरह की व्यवस्था ने उन्हें इन क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण क़ायम रखने में मदद दी।[10] दूसरी ओर, अपने साम्राज्यवादी हितों को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने जंगलों पर अपना एकाधिकार क़ायम करने की नीति अपनायी। इसके लिए उन्होंने 'एमिनेंट डोमेन' के सिद्धांत का सहारा लिया।[11] जंगलों के दोहन के मक़सद से ही 1864 में वन विभाग की स्थापना की गयी। इसके बाद 1865 में वन अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम की कमियाँ दूर करने और इसे ज़्यादा प्रभावकारी बनाने के लिए 1878 का अधिनियम लाया गया। बाद में, इसमें स्पष्टता लाने के लिए 1927 का वन अधिनियम बनाया गया। इसकी 84 धाराओं में से 81 धाराएँ 1878 के क़ानून से ही ली गयी थीं। इन क़ानूनों द्वारा अंग्रेज़ों ने जंगल और इसके संसाधनों पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने की कोशिश की।[12] 1878 के वन अधिनियम में प्रावधान किया गया कि किसी स्थान को 'जंगल' घोषित करने के बाद वहाँ पर रहने वाले लोगों के सम्पत्ति अधिकार को मान्यता दी

ऐनवायरनमेंटलिज़्म, 1600-1860, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

[8] रिचर्ड ग्रोव, विनीता दामोदरन और सतपाल सांगवान (सम्पा.) (1998), *द नेचर ऐंड द ओरिएंट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[9] सी.आर बिजोय (1999). 'आदिवासीज़ बिट्रेड : आदिवासी लैण्ड राइट्स इन केरला', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 34, अंक 22: 1333.

[10] दरअसल, इस पूरी प्रक्रिया का कोई वस्तुनिष्ठ आधार नहीं था। इसी कारण बहुत सी जनजातियों को बहुत गहरे नुकसान का सामना करना पड़ा. मसलन, कई जनजातियाँ 'क्रिमिनल' या अपराधी समुदायों की श्रेणी में डाल दी गयीं। इसके पीछे इस औपनिवेशिक सोच ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई कि कुछ ख़ास भौगोलिक स्थिति में रहने वाली जनजातियों में यह प्रवृत्ति होती है। देखें, संजय निगम (1990), ''डिसिप्लिनिंग ऐंड पुलिसिंग द 'क्रिमिनल बाई बर्थ' : द मेंकिंग ऑफ़ कोलोनियल स्टीरियोटाइप— द क्रिमिनल ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ़ नॉर्थ इंडिया'', *इंडियन इकनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* खण्ड 27, अंक 2.

[11] माना जाता है कि आधुनिक समय में ह्यूगो ग्रोटियस ने 'एमिनेंट डोमेन' (या प्रभुसत्ता) का सिद्धांत बनाया. इसके अनुसार, संप्रभु दो शर्तें पूरी करके अपने क्षेत्र में आने वाली ज़मीन या इसके संसाधन पर अपना स्वामित्व घोषित कर सकता है : (अ) जिन स्थानों पर व्यक्तिगत फ़ायदे के बजाय सार्वजनिक उद्देश्य ज़्यादा बड़ा हो, और (ब) जहाँ राष्ट्रीय हित व्यक्तिगत या सामुदायिक हित से ज़्यादा बड़ा हो; छत्रपति सिंह (1986), *कॉमन प्रॉपर्टी ऐंड कॉमन पॉवर्टी : इंडियाज़ फ़ॉरेस्ट्स, फ़ॉरेस्ट ड्वेलर्स ऐंड द लॉ,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 9-10; औपनिवेशिक दौर में बने 1878 और 1927 के वन अधिनियमों और 1894 में भूमि अधिग्रहण अधिनियम जैसे क़ानूनों में इसका प्रयोग किया गया. स्वतंत्र भारत में भी ये क़ानून कायम रखे गये. इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है कि दरअसल राज्य ने 'एमिनेंट डोमेन' सिद्धांत का प्रयोग अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए किया. देखें, के.बी. सक्सेना (2008), 'डिवेलपमेंट, डिस्प्लेसमेंट ऐंड रेज़िस्टेंस : द लॉ एंड द पॉलिसी ऑफ़ लैंड एक्विज़ीशन', *सोशल चेंज : जर्नल ऑफ़ कौंसिल फ़ॉर सोशल डिवेलपमेंट,* खण्ड 38, अंक 3.

[12] इन क़ानूनों के बनने की पृष्ठभूमि और इस दौरान हुए वाद-विवाद और इनके प्रावधानों के संदर्भ में अब व्यापक सामग्री मौजूद है. इस तरह कुछ कामों के लिए देखें रामचंद्र गुहा (1983 क) : 1882-96; (1983 ख); छत्रपति सिंह (1986); माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा (1992): 123-134; के. शिवरामकृष्णन (1995), 'कोलोनियलिज़म ऐंड फ़ॉरेस्ट्री इन इंडिया : इमैजिनिंग द पास्ट इन प्रेज़ेंट पॉलिटिक्स', *कॉम्पैरेटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री,* खण्ड 37, अंक 1; महेश रंगराजन (1996), *फ़ेंसिंग द फ़ॉरेस्ट : कंज़रवेशन ऐंड इकोलॉजिकल चेंजिज़ इन इंडियाज़ सेंट्रल प्रोविन्सिज़ 1860-1914,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली; अखिलेश्वर पाठक (2002).

जाएगी। लेकिन इसके लिए यह ज़रूरी था कि दावा करने वाले लोग अपने इस दावे के पक्ष में कोई लिखित प्रमाण पेश करें। ऐसा न होने पर उन्हें इस ज़मीन का 'अतिक्रमक' घोषित कर दिया गया। बहुत सी जगहों को जंगल घोषित करते वक़्त लोगों के अधिकार सही तरीक़े से तय नहीं किये गये। इस कारण उनके सारे 'अधिकार' ख़त्म हो गये। ऐसे लोग अपने क्षेत्र के वन अधिकारी की मनमर्ज़ी पर निर्भर हो गये। इस क़ानून द्वारा जंगलों और इसके संसाधनों पर इनके अधिकार 'छूट' में तब्दील कर दिये गये।[13] शुरुआत में अंग्रेज़ों ने मुख्य तौर पर नौकाओं और रेलवे के स्लीपरों के लिए जंगलों का दोहन किया। लेकिन बाद में उन्होंने अपना मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए जंगलों का दोहन बहुत ज़्यादा बढ़ा दिया।[14] ऐसा भी नहीं था कि यह पूरी तरह से इकतरफ़ा प्रक्रिया थी। इस दौर में आदिवासियों ने औपनिवेशिक शासन के दख़ल के ख़िलाफ़ बहुत ज़्यादा विद्रोह किये।[15] इन विद्रोहों के कारण अंग्रेज़ों को इन इलाक़ों के लिए कई प्रगतिशील क़ानून बनाने पड़े। 1908 में बना *छोटानागपुर टेनैन्सी ऐक्ट* ऐसे ही क़ानून का उदाहरण है।[16] इसके पीछे मुख्य मक़सद यह था कि बिरसा मुंडा की बग़ावत के प्रभावों को ख़त्म किया जाए। इसमें अन्य बातों के अलावा जनजातीय समुदायों की ज़मीन ग़ैर-जनजातीय लोगों को न देने का प्रावधान किया गया। इसी तरह, 1910 में बस्तर में आदिवासियों के विद्रोह के बाद अंग्रेज़ों ने आरक्षित किये जाने वाले जंगल की मात्रा में काफ़ी कमी की।[17]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी दो समांतर प्रक्रियाएँ चलीं। संविधान की छठी अनुसूची के अंतर्गत उत्तर-पूर्व के राज्यों के चुनिंदा क्षेत्रों के लिए विशेष प्रावधान किये गये। इसी तरह देश के दूसरे भाग के आदिवासी बहुल क्षेत्रों के लिए पाँचवीं अनुसूची के अंतर्गत कुछ ख़ास संवैधानिक सुरक्षाएँ दी गयीं।[18] इन क्षेत्रों के विकास के लिए सरकार ने भी कई कार्यक्रम शुरू किये। छठी अनुसूची के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों में स्वायत्त ज़िला परिषदों की व्यवस्था की गयी। इस कारण इन्हें कुछ स्वायत्तता मिली।[19] लेकिन पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों की स्थिति में कोई ख़ास बदलाव नहीं हुआ। इसके प्रावधानों को गम्भीरता से लागू करने की कोशिश भी नहीं की गयी। मसलन, पाँचवीं अनुसूची की धारा 5 (1) के अनुसार, राज्यों के राज्यपाल संसद या विधानसभा द्वारा पारित किसी क़ानून को पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में लागू करने से मना कर सकते हैं; या वे यह निर्देश दे सकते हैं कि ज़रूरी संशोधनों के बाद ही इन्हें इन क्षेत्रों में लागू किया जा सकता है।[20] लेकिन स्वतंत्र भारत के इतिहास में कभी भी किसी राज यपाल ने इस संवैधानिक प्रावधान का उपयोग नहीं किया। इस कारण केन्द्र और राज्य के सभी क़ानून पाँचवीं अनुसूची में आने वाले क्षेत्रों में भी लागू होते गये। किसी ने इस बात की परवाह नहीं की कि ये

[13] छत्रपति सिंह (1986).

[14] रामचंद्र गुहा (1989); माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा (1992).

[15] इस तरह के कुछ विद्रोहों के बारे में जानकारी के लिए देखें डेविड आर्नल्ड (1982). 'रिबेलियस हिलमेन : द गुदेम-रंपा राइज़िंग्स 1839-1924', संकलित रणजीत गुहा (सम्पा.), *सबॉल्टर्न स्टडीज़ I : राइटिंग्स इन द साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड सोसाइटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली; के.एस. सिंह (1983क). *ट्राइबल मूवमेंट इन इंडिया,* खण्ड 2, मनोहर, नयी दिल्ली; (1983 ख), *बिरसा मुंडा ऐंड हिज़ मूवमेंट 1874-1901 : अ स्टडी ऑफ़ मिलेनेरियन मूवमेंट इन छोटानागपुर,* ऑक सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता; रामचंद्र गुहा (1989); रामचंद्र गुहा और माधव गाडगिल (1989); माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा (1992); नंदिनी सुंदर (1997), *सबॉल्टर्न्स ऐंड सोवरेन्स : ऐन एंथ्रोपोलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ़ बस्तर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 1335-155.

[16] नंदिनी सुंदर (2009 क), 'लॉ, पॉलिसीज़ ऐंड प्रैक्टिसेज़ इन झारखण्ड', नंदिनी सुंदर (सम्पा.), *लीगल ग्राउंड्स : नैचुरल रिसोर्सेज़, आइडेंटिटी ऐंड लॉ इन झारखण्ड,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 5.

[17] नंदिनी सुंदर (1997).

[18] सव्यसाची (1998), *ट्राइबल फ़ॉरेस्ट-ड्वेलर्स ऐंड सेल्फ़ रूल : द कांस्टीट्युएंट असेम्बली डिबेट ऑन द फ़िफ़्थ ऐंड सिक्थ शेड्यूल्स,* इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट, दिल्ली; बी.डी. शर्मा (2004).

[19] बी.डी. शर्मा (2004) : 97.

[20] *भारत का संविधान* (2008), द्विभाषी संस्करण, चौथा संस्करण, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशंस, इलाहाबाद : 254-55.

देश के दूसरे भागों में भूमि सुधार कार्यक्रम लागू किये गये, लेकिन जंगल में या जंगल की ज़मीन पर बसे गाँवों में इस तरह के भूमि सुधार लागू करने की कोशिश नहीं की गयी। 1952 की वन नीति में राष्ट्रीय विकास के लिए जंगलों के उपयोग करने का फैसला किया गया। इसमें यह कहा गया कि कोई गाँव संसाधनों पर सिर्फ इसलिए अपना दावा नहीं कर सकता है क्योंकि वह वहाँ बसा हुआ है।

क़ानून इन क्षेत्रों के लिए किस सीमा तक उपयुक्त हैं।[21] इसके साथ ही 1927 के वन अधिनियम और इसके अंतर्गत राज्य को मिले 'एमिनेंट डोमेन' का अधिकार भी क़ायम रखा गया।[22] देश के दूसरे भागों में भूमि सुधार कार्यक्रम लागू किये गये, लेकिन जंगल में या जंगल की ज़मीन पर बसे गाँवों में इस तरह के भूमि सुधार लागू करने की कोशिश नहीं की गयी। 1952 की वन नीति में राष्ट्रीय विकास के लिए जंगलों के उपयोग करने का फ़ैसला किया गया। इसमें यह कहा गया कि कोई गाँव संसाधनों पर सिर्फ़ इसलिए अपना दावा नहीं कर सकता है क्योंकि वह वहाँ बसा हुआ है।[23]

दरअसल, उत्तर-औपनिवेशिक दौर में वन-निवासी समुदायों के लिए मुश्किलें काफ़ी बढ़ गयीं। इस संदर्भ में पहली बात तो यह हुई कि बड़े पैमाने पर नये जंगल बनाये गये। लेकिन इन क्षेत्रों में लोगों के अधिकार तय नहीं किये गये। दूसरा, वन विभाग का बहुत ज़्यादा विस्तार हुआ। इससे इन क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों की गतिविधियों पर इसका नियंत्रण बहुत ज़्यादा बढ़ गया। तीसरा, राष्ट्रीय विकास के नाम पर जंगलों का अंधाधुंध दोहन किया गया। स्वतंत्र भारत की सरकार ने अंग्रेज़ों की 'वैज्ञानिक वानिकी' (साइंटिफ़िक फ़ॉरेस्ट्री) की नीति जारी रखी। इसने भी मिश्रित जंगलों की जगह उद्योगों के लिए फ़ायदेमंद पेड़ लगाये गये। इससे जंगल और वन्य जीव — दोनों को ही बहुत ज़्यादा नुक़सान का सामना करना पड़ा। चौथा, जंगलों और वन्य जीवों की स्थिति बेहतर बनाने के लिए 1970 के बाद के वर्षों में कई ऐसे क़ानून बने, जिनके कारण वन निवासियों की ज़िंदगी पर राज्य का नियंत्रण और भी सख़्त हो गया।[24] 1972 में वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम पारित हुआ। इसमें राज्यों को संरक्षित क्षेत्र अर्थात् नेशनल पार्क और अभयारण्य बनाने का अधिकार दिया गया। ख़ास तौर पर नैशनल पार्कों में स्थानीय समुदायों की गतिविधियों पर पाबंदी लगायी गयी और उन्हें दूसरी जगह बसाने का प्रावधान किया गया। 1980 में *वन संरक्षण अधिनियम* पारित हुआ। इसमें केन्द्र सरकार की इजाज़त के बग़ैर जंगल की ज़मीन के ग़ैर-वनीय उपयोग के लिए 'डायवर्ज़न' (या बदलाव) करने पर पाबंदी लगायी गयी।[25] इन क़ानूनों की मदद से स्थानीय समुदायों की गतिविधियों पर तो पाबंदी लगायी गयी, लेकिन क़ानून के सभी प्रावधानों को सही तरीक़े से

---

[21] बी.डी. शर्मा (2004) : 97-98; डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा (2001), *पाँचवीं अनुसूची,* सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट, नयी दिल्ली.

[22] संविधान के अनुच्छेद 31ए की उप-धारा 2ए (iii) में वनों से संबंधित क़ानूनों को स्वतंत्र भारत में भी क़ायम रखा गया है। देखें भारत का संविधान (2008) : 20.

[23] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (1952), *रेज़ोल्यूशन ऑन द नेशनल फ़ॉरेस्ट पॉलिसी, मैनेजर ऑफ़ पब्लिकेशन्स,* शिमला; एल.के. झा (1992). *इंडियाज़ फ़ॉरेस्ट पॉलिसीज़,* आशीष, नयी दिल्ली : 29-73.

[24] इन सभी आयामों के बारे में ज़्यादा विस्तार से जानकारी के लिए देखें, कैम्पेन फ़ॉर सर्वाइवल ऐंड डिग्निटी (कैम्पेन) (2004), *एन्डेन्जर्ड सिम्बायोसिस : एविक्शंस ऐंड इंडियाज़ फ़ॉरेस्ट कम्युनिटीज़, रिपोर्ट ऑफ़ द जन सुनवाई, जुलाई 19-20, 2003,* नयी दिल्ली : 3-26; अखिलेश्वर पाठक (1994), *कांटेस्टेड डोमेन्स : द स्टेट, पेजेन्ट्स ऐंड फ़ॉरेस्ट्स इन कंटेम्परी इंडिया,* सेज पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली; माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा (1992); (1995). *इकॉलॅजी ऐंड एक्विटी. यूनाइटेड नेशंस रिसर्च इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल डिवेलपमेंट,* ऑक्सफ़र्ड इंडिया पेपरबैक्स 2004, नयी दिल्ली.

[25] देखें गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (1972), *वाइल्ड लाइफ़ (प्रोटेक्शन) ऐक्ट,* मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस, नयी दिल्ली; (1980), *फ़ॉरेस्ट (कंज़रवेशन) ऐक्ट,* मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस, नयी दिल्ली.

लागू नहीं किया गया। मसलन, नेशनल पार्कों से बहुत कम लोगों का दूसरी जगहों पर पुनर्वास किया गया।[26] इसके अलावा, औद्योगिक हित पूरा करने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर जंगल की ज़मीन का 'डायवर्ज़न' किया गया।[27]

बहरहाल, 1970 के दशक से, ख़ास तौर पर इमरजेंन्सी के बाद, देश के दूसरे भागों की तरह ही इन क्षेत्रों में भी लोगों के भीतर राजनीतिक जागरूकता बढ़ी। इस दौर में स्थानीय स्तर पर बहुत से संगठनों का उभार हुआ और उन्होंने राज्य द्वारा ऊपर से थोपे गये 'विकास के मॉडल' का विरोध करना शुरू किया। इस तरह के बहुत से आंदोलनों में पर्यावरणीय चिंता और संसाधनों पर स्थानीय समूहों के हक़ की माँग— दोनों ही शामिल रही है। 1973 में शुरू हुआ 'चिपको आंदोलन' या 1980 के दशक का 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' इसी तरह के प्रतिरोध के उदाहरण थे।[28] रजनी कोठारी ने इस तरह की गतिविधियों के लिए 'ग़ैर-दलीय राजनीतिक प्रक्रिया' शब्द का इस्तेमाल किया है।[29] इसके अलावा, 1980 के दशक में इन क्षेत्रों में माओवादियों की गतिविधियाँ बढ़ने से भी यहाँ के लोगों की राजनीतिक जागरूकता बढ़ी।[30] इन सब कारकों का प्रभाव भारत की वन नीति पर भी दिखा। 1988 में भारत सरकार द्वारा पेश की गयी वन नीति में एक बुनियादी बदलाव आया। अब जगंलों के प्रबंधन में स्थानीय समुदायों को भूमिका देने की बात स्वीकार की गयी। दरअसल, इस बदलाव में स्थानीय स्तर पर शुरू हुए आंदोलनों की सबसे बड़ी भूमिका थी। दरअसल, इन्हीं आंदोलनों ने पेसा या वन अधिकार क़ानून के निर्माण की नींव रखी।

II

पेसा : पृष्ठभूमि, वाद-विवाद और संघर्ष

ऊपर के वर्णन से यह बात स्पष्ट है कि पाँचवीं अनुसूची के प्रावधानों को गम्भीरता या ईमानदारी से लागू नहीं किया गया। पूरे देश में लागू होने वाले क़ानून इन इलाक़ों में भी लागू कर दिये गये। इस बात की परवाह नहीं की गयी कि ये क़ानून किस सीमा तक इन क्षेत्रों के लोगों की परम्पराओं के अनुकूल हैं। एक तरह से इन क्षेत्रों में रहने वाले सभी लोगों का अपराधीकरण हो गया। इन जगहों पर उनकी उपस्थिति, उनकी परम्पराएँ और उनके द्वारा अपनी जीविका कमाने के लिए जंगलों के संसाधनों का

---

[26] आशीष कोठारी (2005) 'बंगाल इन द जंगल', *सेमिनार 552,* अगस्त.

[27] मसलन, 2004 में पर्यावरण एवं वन मंत्री ने संसद में यह सूचना दी कि 1980 के बाद 11,282 विकास योजनाओं के लिए 9.8 लाख हेक्टेयर वन भूमि को सामान्य भूमि में बदला गया। इसी तरह, 1980 के बाद तक़रीबन 1.6 लाख हेक्टेयर जंगल की ज़मीन को सिर्फ़ खनन कार्यों के लिए सामान्य भूमि में बदला गया। देखें, माधुरी कृष्णास्वामी (2005), 'वन स्टेप फ़ॉरवर्ड, टू स्टेप्स बैकवर्ड'. *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 47 : 1400.

[28] इस तरह के आंदोलनों के बारे में काफ़ी अध्ययन हुए हैं. इस तरह के कुछ अध्ययनों के लिए देखें सुंदरलाल बहुगुणा (1983), *वर्किंग विद द चिपको मेसेज़,* नवजीवन आश्रम, सिलयारा, टिहरी गढ़वाल; (1987), *द चिपको : अ पीपुल्स मूवमेंट इन हिमालयन हेरीटेज,* ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; वंदना शिवा और जयंती बंद्योपाध्याय (1986), *चिपको : इंडियाज़ सिविलाइज़ेशनल रेस्पान्सेज़ टू द फ़ॉरेस्ट क्राइसिस,* नटराज, नयी दिल्ली; रामचंद्र गुहा (1989); अमिता बाविस्कर (1993), *इन बेली ऑफ़ द रिवर : ट्राइबल कॉन्फ़्लिक्ट ओवर डिवेलपमेंट इन नर्मदा वैली,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

[29] रजनी कोठारी (1984), 'द नॉन पार्टी पॉलिटिकल प्रॉसेस', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 19, अंक 5.

[30] जंगल और इससे सटे क्षेत्रों में माओवादियों की शुरुआती गतिविधियों की जानकारी के लिए देखें, पी. शंकर (1999), *यह जंगल हमारा है : दण्डकारण्य के क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास,* (अनुवाद : पासंदी निर्मला), न्यू विस्टाज़ पब्लिकेशंस, दिल्ली (हिंदी संस्करण 2006); गौतम नवलखा (2012), *डेज़ ऐंड नाइट्स इन दहार्टलैंड ऑफ़ रिबेलियन,* पेंगुइन बुक्स, दिल्ली; राहुल पंडिता, (2011), *हेलो बस्तर : द अनटोल्ड स्टोरी ऑफ़ इंडियाज़ माओइस्ट मूवमेंट,* ट्रैंक्वेबार, दिल्ली.

उपयोग आदि सभी काम ग़ैरक़ानूनी बन गये।[31] यह संविधान की मूल भावना के विपरीत था। अब राज्य कभी भी उनकी किसी गतिविधि को 'अपने क़ानून' के हिसाब से ग़लत ठहरा सकता था। यही कारण था कि 1970 और 1980 के दशक में स्थानीय स्तर पर सामने आये आंदोलनों में यह माँग ज़ोर-शोर से उठायी गयी कि स्थानीय समुदायों का उनके संसाधनों पर हक़ होना चाहिए। पेसा के लिए चलने वाले आंदोलनों में भी यही माँग थी।

शोध-आलेख के इस भाग में पेसा की पृष्ठभूमि, इसके लिए चलने वाले आंदोलन और इसके बनने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इसमें इस बात का भी विश्लेषण किया गया है कि आंदोलनों की माँग और वास्तविक क़ानून में क्या अंतर रहा। यह भाग दो उपभागों में बँटा है। पहले उपभाग में क़ानून की पृष्ठभूमि, भूरिया समिति के गठन तथा इसकी विभिन्न सिफ़ारिशों की विवेचना की गयी है। दूसरे उपभाग में क़ानून के संसद में पारित होने तक चले आंदोलनों का वर्णन किया गया है। इसमें संसद से पारित क़ानून का आलोचनात्मक विश्लेषण भी किया गया है।

1. 'मावा मोटे मावा राज' : पंचायती राज और अलग क़ानून के लिए संघर्ष

ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि अस्सी के दशक में ऊपर से थोपे गये विकास और मनमाने क़ानूनों के ख़िलाफ़ आदिवासियों का विरोध कई रूपों में सामने आने लगा था। इस संदर्भ में 'नाटे ना राज आंदोलन' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। बस्तर के सुदूर घने जंगलों के बीच संगम गाँव में 8 से 10 नवम्बर 1988 को 'ग्राम-स्वराज' सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इस संदर्भ में आगे चलकर 2 नवम्बर 1991 को *भारत जन आंदोलन* की स्थापना हुई। दरअसल, यह आदिवासी इलाक़ों में काम करने वाले कई संगठनों और आंदोलनों के एक संयुक्त मोर्चे के रूप में सामने आया।[32] डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा (या बी.डी. शर्मा) ने इस संगठन को वैचारिक दिशा देने का काम किया। ये आदिवासियों के हितैषी प्रशासक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। उन्होंने 'अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त' के रूप में भी काम किया। इस रूप में उनके द्वारा तैयार की गयी रिपोर्टों में आदिवासियों के हितों से संबंधित कई बुनियादी सवाल उठाये गये। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के आयुक्त की उनतीसवीं रिपोर्ट में उन्होंने सिफ़ारिश की कि कम-से-कम आदिवासी इलाक़ों में पूरी तरह स्वशासी व्यवस्था क़ायम की जाए। उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि इन इलाक़ों में स्थानीय समाज को सभी संसाधनों के रखरखाव और उपयोग का पूरा अधिकार होना चाहिए।[33] भारत जन आंदोलन ने भी आदिवासी इलाक़ों में चलाए जाने वाले अपने विभिन्न आंदोलनों के माध्यम से संसाधनों पर स्थानीय समुदायों की हक़दारी पर ज़ोर दिया। इसने यह माँग रखी कि विकास कार्यक्रमों के बारे में स्थानीय लोगों से सहमति ली जानी चाहिए।[34]

इस बीच संसद ने 73 वें और 74वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान में भाग 9 (पंचायत) और भाग 9क (नगरपालिकाओं) जोड़ा। राजीव गाँधी सरकार द्वारा तैयार किये गये पहले विधेयक की तरह ही अब अनुसूचित क्षेत्रों को इससे बाहर रखने की व्यवस्था की गयी। साथ ही, यह प्रावधान किया

---

[31] बी.डी. शर्मा (2004) : 98.

[32] वही.

[33] भारत सरकार (1989), *अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की रिपोर्ट,* उनतीसवीं रिपोर्ट. नयी दिल्ली

[34] मसलन, दिसम्बर 1992 में बस्तर ज़िले के मावलीभाटा गाँव में इस्पात कारखाने की स्थापना के ख़िलाफ़ संघर्ष हुआ. इसके बाद 'उद्योग पर समाज की मालिकी' सिद्धांत की घोषणा हुई. इसी तरह, मार्च 1994 में उद्योगों के लिए ज़मीन लिए जाने की स्थिति में न्यायपूर्ण व्यवस्था के लिए मध्य प्रदेश (वर्तमान छत्तीसगढ़) के रायपुर ज़िले में लंबा आंदोलन शुरू हुआ। देखें, *गाँव गणराज्य डायरी* (2005), सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट, नयी दिल्ली.
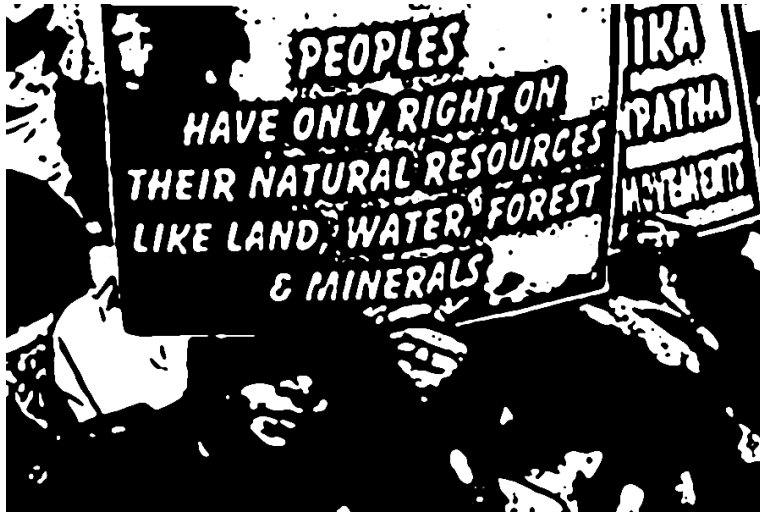
गया कि संसद इन भागों को स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार लागू करने के लिए अलग से क़ानून बनायेगी। लेकिन बहुत से राज्यों ने इस पहलू पर ध्यान दिये बग़ैर ही अपने पंचायत अधिनियम बना दिये। कई राज्यों में इन अधिनियमों के अनुसार चुनाव भी हो गये। मसलन, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में पंचायत राज क़ानून के प्रावधानों की उपेक्षा करते हुए अनुसूचित क्षेत्रों में भी चुनाव करा दिये गये।[35] लेकिन भारत जन आंदोलन ने आदिवासी स्वशासन के लिए अपना दबाव बनाये रखा। इस संदर्भ में इसकी पहल पर आदिवासी स्वशासन के लिए राष्ट्रीय मोर्चे का भी गठन हुआ। आंदोलन के दबाव के कारण आख़िरकार केन्द्र सरकार ने जून 1994 में कांग्रेस सांसद दिलीप सिंह भूरिया की अध्यक्षता में सांसदों और विशेषज्ञों की एक 22 सदस्यीय समिति का गठन किया। इसका काम पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में पंचायती व्यवस्था के बारे में सिफ़ारिश देना था। भारत जन आंदोलन के नेता बी.डी. शर्मा भी इस समिति में शामिल थे।[36] पेसा के लिए गठित इस समिति की कुछ मुख्य सिफ़ारिशें इस प्रकार थीं :

पहला, आदिवासी इलाक़े की प्रत्येक बस्ती (हैमलेट) को, चाहे उसकी आबादी कितनी भी क्यों न हो, ग्राम सभा का दर्जा दिया जाना चाहिए।[37] दूसरा, आदिवासी क्षेत्रों में युगों से चले आ रहे पारम्परिक रीति-रिवाजों और व्यवस्थाओं का आदर किया जाना चाहिए। उन्हें जारी रखा जाना चाहिए और आधुनिक व्यवस्था से उनका तालमेल होना चाहिए।[38] तीसरा, ग्राम सभा के अधिकार क्षेत्र में वे सभी काम आने चाहिए जो लोगों की आम ज़िंदगी से संबंधित हैं। इनमें जल, जंगल, ज़मीन सहित प्राकृतिक संसाधनों पर समाज के परम्परागत अधिकार की रक्षा और उनकी देखरेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आरक्षित या दूसरे वनों से 'निस्तार' (वनोपजों के संग्रह आदि) की पूरी व्यवस्था ग्राम सभी ही करेगी।[39] चौथा, ग्राम सभा के पास गाँव स्तर पर विकास का काम करने का अधिकार

[35] वही.

[36] डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा (2005), *आदिवासी क्षेत्र किस ओर ? : सांविधानिक संशोधन भूरिया समिति रिपोर्ट और उसके आगे...*, सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट, नयी दिल्ली.

[37] वही : 29.

[38] वही : 78.

[39] वही : 39.

होना चाहिए। सरकार को विकास और दूसरे कामों के लिए आबंटित पूरी धनराशि ग्राम सभा को दे देनी चाहिए।[40] पाँचवा, ग्राम सभा को सभी तरह के फ़ौजदारी मामले और दीवानी मामलों पर विचार करने और उन पर फ़ैसला करने का अधिकार होना चाहिए। लेकिन हत्या और डकैती जैसे जघन्य अपराधों के बारे में पुलिस ही उचित कार्रवाई करेगी।[41] छठा, ग्राम सभा की सहमति के बग़ैर किसी तरह का भूमि अधिग्रहण नहीं किया जाए। उसे भूमि अधिग्रहण के प्रस्तावों पर विचार करने, भूमि अधिग्रहण से प्रभावित लोगों के लिए पुनर्वास योजनाओं का अनुमोदन करने और उन्हें लागू करने का अधिकार होना चाहिए।[42] सातवाँ, छठवीं अनुसूची की तरह ही पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में भी स्वायत्तशासी ज़िला परिषदों की व्यवस्था लागू की जानी चाहिए।[43] समिति ने अपने विचार-विमर्श में यह भी स्वीकार किया कि स्थानीय समुदायों को अधिकार न मिलने के कारण इन क्षेत्रों के लोगों में ज़बर्दस्त असंतोष मौजूद है और इससे माओवादी आंदोलन को ठोस आधार मिला है।[44]

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि भूरिया समिति ने ग्राम सभा को बहुत ही मज़बूत बनाने की सिफ़ारिश की। एक तरह से इसने स्थानीय स्तर पर चलने वाले आंदोलनों की माँगें ही आगे बढ़ायीं। दरअसल, भूरिया समिति ने दो रिपोर्ट दी थीं। इसने अपनी पहली रिपोर्ट 17 जनवरी 1995 को पेश की। यह अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायत ख़ास तौर पर ग्राम सभा से संबंधित थी। 15 जुलाई 1995 को इसने अपनी दूसरी रिपोर्ट पेश की। इसमें पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में नगरपालिकाओं के बारे में बहुत-सी सिफ़ारिशें की गयी थीं। इसमें इस क्षेत्र में नगरपालिकाओं को ज़्यादा स्वायत्त बनाने पर ज़ोर दिया गया था। बहरहाल, भारत जन आंदोलन और दूसरे जनसंगठनों ने पहले पंचायत से संबंधित मामलों पर ध्यान देने का फ़ैसला किया। दरअसल, उन्होंने यह महसूस किया कि गाँवों में स्थानीय समुदायों को हक़ दिलाना ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है और शहरी क्षेत्रों पर बाद में ध्यान दिया जा सकता है।[45]

2. क़ानून के लिए संघर्ष : नये क़ानून की विशेषताएँ और सीमाएँ

73वें संविधान संशोधन के बाद कई राज्यों ने पंचायत अधिनियम तैयार करके अपने यहाँ के अनुसूचित क्षेत्रों में भी चुनाव करा लिए थे। जब ये चुनाव हो रहे थे तो इन्हें चुनौती नहीं दी गयी क्योंकि उस समय वैकल्पिक क़ानून की कोई रूपरेखा नहीं थी। भूरिया समिति की रिपोर्ट ने यह कमी पूरी कर दी थी। रिपोर्ट आने के दो दिन बाद आंध्र प्रदेश में चुनाव हो रहे थे। लेकिन वहाँ के उच्च न्यायालय ने इन चुनावों पर रोक लगा दी। बिहार उच्च न्यायालय ने भी यह व्यवस्था दी कि पंचायत क़ानूनों को ज्यों-का-त्यों अनुसूचित क्षेत्रों पर लागू करना संविधान का उल्लंघन है।[46] इसके बाद भारत जन आंदोलन ने भूरिया समिति की सिफ़ारिशों के आधार पर क़ानून बनाने की माँग को लेकर अपना आंदोलन तेज़ कर दिया। ऊपर मैंने इस बात का उल्लेख किया है कि भारत जन आंदोलन का गठन बी. डी. शर्मा

---

[40] वही : 40.

[41] वही : 41-2.

[42] वही : 42-3.

[43] वही :64.

[44] वही : 60.

[45] यह बात डॉ. बी.डी. शर्मा ने अपने इंटरव्यू में बतायी. कमल नयन चौबे द्वारा डॉ. बी.डी. शर्मा का इंटरव्यू, 16 नवम्बर 2010, नयी दिल्ली.

[46] नंदिनी सुंदर (2009 ख), 'फ्रेमिंग द पॉलिटिकल इमैजिनेशन : कस्टम, डेमॉक्रैसी ऐंड सिटिज़नशिप', नंदिनी सुंदर (सम्पा.) *लीगल ग्राउंड्स : नैचुरल रिसोर्सिज़, आइडेंटिटी ऐंड लॉ इन झारखण्ड, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस,* नयी दिल्ली : 201.

की प्रेरणा से हुआ। इस संगठन ने ख़ास तौर पर, तत्कालीन मध्य प्रदेश और बिहार में (सन् 2000 में इससे अलग होकर क्रमशः छत्तीसगढ़ और झारखण्ड राज्य बने)। आदिवासियों के भीतर ग्राम स्वराज की भावना भरने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। वैसे इस संगठन का नेतृत्व डॉ. शर्मा के हाथों में था, लेकिन संगठन की गतिविधियों के बारे में फ़ैसला करने वाले लोगों में बहुत से आदिवासी भी शामिल थे। इन लोगों ने अपने क्षेत्र में गाँव के स्तर पर दूसरे आदिवासियों को संगठित किया। इन इलाक़ों में प्रस्तावित क़ानून को 'हमारा क़ानून' का दर्ज़ा दिया गया। यानी लोगों में यह भावना भरने की कोशिश की गयी कि यह क़ानून उनके हित में है। भारत जन आंदोलन ने क़ानून के पक्ष में कई स्तरों पर प्रदर्शन भी किया। इसने 2 अक्टूबर 1995 से पूरे आदिवासी क्षेत्र में सिविल नाफ़रमानी की घोषणा की। 16 नवम्बर 1995 को खरगौन मध्य प्रदेश में 50, 000 आदिवासियों की एक बड़ी रैली हुई जिसमें 'हमारे गाँव में हमारा राज' नारा बुलंद किया गया। फिर 15 फरवरी 1996 को दिल्ली में राजघाट पर नया क़ानून बनाने के लिए अनिश्चितकालीन उपवास शुरू हुआ। आख़िरकार, दस दिन बाद सरकार से समझौता हुआ। इसमें सरकार ने यह मंज़ूर किया कि वह संसद के आगामी सत्र में नये क़ानून के लिए विधेयक पेश करेगी। इस उपवास के दौरान विभिन्न राजनीतिक दलों के सदस्यों ने भी इस आंदोलन को अपना समर्थन दिया। आंदोलनकारियों ने सरकार पर दबाव बनाये रखा। स्थानीय स्तर पर इस क़ानून के लिए जागरूकता अभियान चलाने के साथ ही दिल्ली में धरने-प्रदर्शन का सिलसिला चलता रहा। दिल्ली में 2 अक्टूबर 1996 को आदिवासियों की एक रैली हुई। इसमें नये क़ानून को जल्द-से-जल्द पारित करने की माँग की गयी। आख़िरकार अनुसूचित क्षेत्रों के लिए स्वशासी व्यवस्था करने से संबंधित विधेयक 1996 में संसद के शीतकालीन सत्र में एकमत से पारित हो गया और राष्ट्रपति ने 24 दिसम्बर को इसे अपना अनुमोदन दे दिया।[47] इसमें यह स्पष्ट प्रावधान किया गया कि राज्य स्तर के जो भी क़ानून पेसा से टकराते हैं उन्हें एक साल के भीतर सुधार लिया जाना चाहिए, नहीं तो वे अप्रभावकारी हो जाएँगे।[48]

पेसा के लिए आंदोलन करने वाले जन संगठनों ने इसे ऐतिहासिक क़ानून का दर्ज़ा दिया। उन्होंने यह दावा किया कि यह ग्राम-स्वराज्य का लक्ष्य वास्तविक रूप में लागू करता है। यह स्थानीय समुदायों को अपनी परम्पराओं और सामुदायिक प्रथाओं के अनुरूप अपने जीवन के फैसले लेने और संसाधनों का उपयोग करने में समर्थ बनाता है।

पेसा के लिए आंदोलन करने वाले जन संगठनों ने इसे ऐतिहासिक क़ानून का दर्ज़ा दिया। उन्होंने यह दावा किया कि यह ग्राम-स्वराज्य का लक्ष्य वास्तविक रूप में लागू करता है। यह स्थानीय समुदायों को अपनी परम्पराओं और सामुदायिक प्रथाओं के अनुरूप अपने जीवन के फ़ैसले लेने और संसाधनों का उपयोग करने में समर्थ बनाता है।[49] पेसा में ग्राम सभा को अधिकार देने के बारे में भूरिया समिति की सिफ़ारिशें स्वीकार की गयीं। इसमें गाँव को टोला या बस्ती के आधार पर परिभाषित किया गया।[50] इसमें यह प्रावधान भी किया गया कि पंचायतों से संबंधित किसी भी क़ानून में स्थानीय समुदायों

[47] *गाँव गणराज्य डायरी* (2005).
[48] बी.डी. शर्मा (2004) : 106.
[49] वही : 106-07.
[50] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (1996), *द प्रोविज़ंस ऑफ़ पंचायत्स (एक्सटेंशन टू शेड्यूल्ड एरियाज़) ऐक्ट 1996, मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस,* नयी दिल्ली : धारा 4 (बी).

राज्य ने आंदोलन के दबाव और संवैधानिक बाध्यता के कारण यह क़ानून लाने का फैसला किया। यहाँ संवैधानिक बाध्यता की तुलना में आंदोलन का दबाव ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था। इसका एक प्रमाण यह है कि आंदोलन का दबाव कम होने के कारण ही राज्य नगरपालिकाओं के संबंध में संवैधानिक प्रावधानों का पूरी तरह उल्लंघन करता रहा है।

की प्रथाओं, सामाजिक और धार्मिक पद्धतियों और सामुदायिक सम्पदाओं की परम्परागत प्रबंध पद्धतियों का ध्यान रखा जाएगा।[51] इसमें उन सभी समूहों के लिए आरक्षण का प्रावधान किया गया, जिनके लिए संविधान में आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। लेकिन इसमें यह विशेष प्रावधान किया गया कि अनुसूचित जनजातियों के लिए कम-से-कम आधे स्थान आरक्षित होंगे और सभी स्तरों पर अध्यक्ष का पद अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित होगा।[52]

पेसा की तीन स्तरों पर आलोचना की गयी। पहला, क़ानून के लिए आंदोलन करने वाले संगठनों और भूरिया समिति ने क़ानून का जो प्रारूप पेश किया था, उसे स्वीकार नहीं किया गया। भूरिया समिति ने नगरपालिकाओं के लिए अलग से रिपोर्ट दी थी, लेकिन उस पर कोई कार्रवाई नहीं हुई। इसी तरह, उसने पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में स्वायत्तशासी ज़िला परिषद स्थापित करने की सिफ़ारिश की थी। लेकिन पेसा में इसके बारे में कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं किया गया। इसमें इस बारे में बहुत ही गोल-मोल भाषा का इस्तेमाल किया गया है।[53] दूसरा, नंदिनी सुंदर के अनुसार, पेसा में क़ानून लागू करने के लिए प्रभावकारी संयंत्र का प्रावधान नहीं किया गया है। क़ानून में यह प्रावधान भी नहीं किया गया है कि इसे पुलिस और वन विभाग की तुलना में प्राथमिकता या पूर्वता दी जाएगी; ऐसी स्थिति में क्या होगा जब प्रथागत क़ानून या विवाद के निपटारे के पारम्परिक तरीक़े से किसी व्यक्ति के संवैधानिक व्यक्तिगत अधिकारों का उल्लंघन हो। इसके अलावा, पेसा विकास परियोजनाओं के लिए भूमि अधिग्रहण के मसले पर आदिवासियों को सिर्फ़ सलाह-मशविरे के अधिकार देता है।[54] तीसरा, बी.के. रॉयबर्मन ने पेसा की आलोचना करते हुए यह तर्क दिया कि इसमें आदिवासी समाज की विभिन्नताओं पर ध्यान नहीं दिया गया है।[55]

पेसा के लिए चले आंदोलन, आंदोलन से निकलकर आये क़ानून की रूपरेखा और संसद द्वारा पारित क़ानून का विश्लेषण करने से यह बात स्पष्ट होती है कि इसमें भारत जन आंदोलन द्वारा चलाये जा रहे आंदोलन ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। दरअसल, राज्य ने आंदोलन के दबाव और संवैधानिक बाध्यता के कारण यह क़ानून लाने का फ़ैसला किया। यहाँ संवैधानिक बाध्यता की तुलना में आंदोलन का दबाव ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था। इसका एक प्रमाण यह है कि आंदोलन का दबाव कम होने के कारण ही राज्य नगरपालिकाओं के संबंध में संवैधानिक प्रावधानों का पूरी तरह उल्लंघन करता रहा है। इसी कारण राज्य ग्राम सभाओं के बारे में भी भूरिया समिति के कुछ ज़्यादा महत्त्वपूर्ण प्रावधानों की उपेक्षा करने में सफल रहा। लेकिन इससे यह भी स्पष्ट है कि राज्य ने आंदोलन का आदर्श क़ानून स्वीकार नहीं किया। यह आंदोलन के दबाव और क़ानून के स्वरूप में एक स्पष्ट संबंध दिखता है।

51 वही : धारा 4 (ए).
52 वही : धारा 4 (जी).
53 वही : धारा 4 (ओ).
54 वही : धारा 4 (जे); साथ ही देखें नंदिनी सुंदर (2009 ख) : 202.
55 बी.के. रॉयबर्मन (2004), 'ऐनालिटिकल एप्रेज़ल ऑफ़ द पंचायत (एक्सटेंशन टू द शेड्यूल्ड एरियाज़) ऐक्ट 1996', *मेनस्ट्रीम,* दिसम्बर 15.

III

वन अधिकार क़ानून : मुख्य प्रावधान वाद-विवाद और संघर्ष

शोध-आलेख के पहले भाग में मैंने इस बात को रेखांकित किया है कि औपनिवेशिक क़ानूनों के कारण कई पीढ़ियों से जंगल की ज़मीन पर रहने वाले लोग 'अतिक्रमक' में तब्दील हो गये। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी सरकार ने कभी भी इस समस्या को पूरी तरह हल करने की कोशिश नहीं की। यह ज़रूर हुआ कि कुछ राज्यों में चुनावों के वक़्त कुछ लोगों को ज़मीन का पट्टा दे दिया जाता था।[56] आज़ादी के बाद विकास का जो मॉडल अपनाया गया, उसके कारण बहुत से लोग विस्थापित हुए; नये क्षेत्रों को जंगल घोषित किया गया लेकिन वहाँ रहने वाले लोगों के अधिकार तय नहीं किये गये। आज़ादी के बाद अपनाये गये विकास मॉडल के कारण लाखों लोग विस्थापित हुए। इन विस्थापित लोगों में आदिवासियों की संख्या सबसे ज़्यादा थी।[57] अधिकांश विस्थापित लोगों के पुनर्वास की व्यवस्था नहीं की गयी। इस कारण बहुत से लोग जंगल की ज़मीन पर बस गये। इससे जंगल की ज़मीन पर 'अतिक्रमण' की समस्या बढ़ी। जंगल के नज़दीक बसे गाँवों में बहुत से लोगों ने जीविका के साधन के रूप में जंगल की थोड़ी बहुत ज़मीन पर ग़लत तरीक़े से क़ब्ज़ा कर लिया।[58] जंगल और इसके नज़दीकी क्षेत्रों में लोगों के जीवन में राज्य और इन इलाक़ों में उसकी प्रतिनिधि संस्था के रूप में वन विभाग का बहुत ज़्यादा नियंत्रण रहा है। इन लोगों की जंगल में आवाजाही पर वन विभाग द्वारा मनमानी पाबंदियाँ लगायी जाती रही हैं। बहरहाल, स्थानीय स्तर पर लोगों में जागरूकता बढ़ाने के साथ ही 'अतिक्रमण' को मान्यता देने और जंगल से वन विभाग के एकाधिकार और मनमानेपन को ख़त्म करने की माँग भी उठती रहीं। इस संदर्भ में 1990 में *पर्यावरण और वन मंत्रालय* ने एक सर्कुलर भी जारी किया, लेकिन उस संदर्भ में कुछ ठोस कार्रवाई नहीं हुई।[59] बहरहाल, स्थानीय स्तर पर अपनी 'ग़ैरक़ानूनी' स्थिति और वन विभाग के मनमानेपन से त्रस्त लोगों ने इस तरह के क़ानून की माँग करना जारी रखा।

शोध-पत्र के इस भाग में वन अधिकार क़ानून बनने की प्रक्रिया के विविध चरणों और इनमें सामने आने वाले मुद्दों का विश्लेषण किया गया है। यह भाग भी दो उपभागों में बँटा है। पहले उपभाग में अप्रैल 2005 में सार्वजनिक बहस के लिए जारी किये गये विधेयक के मुख्य प्रावधानों की विवेचना की गयी है। यहाँ इसके पक्ष-विपक्ष में चलने वाले वाद-विवाद और आंदोलनों के स्वरूप की भी समीक्षा की गयी है। इसके अलावा, यह भी स्पष्ट किया गया है कि दिसम्बर 2005 में संसद में पेश विधेयक अप्रैल 2005 के प्रारूप से कैसे अलग था। दूसरे उपभाग में विधेयक के बारे में संयुक्त संसदीय समिति (या ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमिटी— यहाँ के बाद से जेपीसी) की रिपोर्ट, विधेयक को संसद में पारित कराने के लिए हुए संघर्ष और आंदोलन, संसद में पारित क़ानून और इसके प्रति असंतोष की व्याख्या की गयी है।

---

[56] शरद कुलकर्णी (1987) 'फ़ॉरेस्ट लेजिस्लेशन ऐंड ट्राइबल्स : कमेंट्स ऑन फ़ॉरेस्ट पॉलिसी रेज़ोल्यूशन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 22, अंक 50: 2143-48; अखिलेश्वर पाठक (1994): 93-94.

[57] डब्ल्यू. फर्नांडिज़ और वी. परांजपे. (सम्पा.) (1997), *रिहैबिलिटेशन पॉलिसी ऐंड द लॉ इन इंडिया : अ राइट टु लाइवलीहुड,* आईएसआई, पुणे.

[58] कमल नयन चौबे (2010) : अध्याय 5.

[59] मधु सरीन (2005), 'शेड्यूल्ड ट्राइब्स बिल 2005: अ कमेंट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 21.

1. विधेयक का शुरुआती स्वरूप, वाद-विवाद, आंदोलन और विधेयक को बेहतर बनाने के सुझाव

2002 में गोदावर्मन केस[60] में सर्वोच्च न्यायालय के एक आदेश की ग़लत व्याख्या करते हुए वन विभाग ने हज़ारों वन निवासियों के घर उजाड़ दिये। सर्वोच्च न्यायालय ने सिर्फ़ 'अतिक्रमण' को मान्यता देने पर रोक लगायी थी। लेकिन वन विभाग ने इसकी आड़ में हज़ारों आदिवासियों को उनके घरों से बेदख़ल कर दिया। इस घटना ने वन अधिकार क़ानून के आंदोलन में तात्कालिक कारण की भूमिका अदा की।[61] इस घटना के कारण जंगल की ज़मीन और इसके संसाधनों पर आदिवासियों के अधिकारों को मान्यता देने की माँग ने बहुत ज़ोर पकड़ा। 2004 के लोकसभा चुनावों में सभी प्रमुख राजनीतिक दलों ने आदिवासियों के जंगल की ज़मीन और उसके संसाधनों पर अधिकार देने का वायदा किया। चुनावों के बाद संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (या यूपीए) सरकार ने आदिवासी अधिकारों को मान्यता देने के लिए क़ानून बनाने की प्रक्रिया शुरू की।[62]

जनवरी, 2005 को प्रधानमंत्री ने *जनजातीय मामलों के मंत्रालय* को यह निर्देश दिया कि वह जंगल की ज़मीन पर आदिवासियों के अधिकार के संबंध में एक विधेयक तैयार करे। विधेयक बनाने की प्रक्रिया में आदिवासी मामलों के विद्वान और कार्यकर्त्ता भी जुड़े हुए थे। अप्रैल 2005 में विचार-विमर्श के लिए ज़ारी विधेयक के पहले प्रारूप को 'अनुसूचित जनजाति (वन अधिकारों की मान्यता) विधेयक, 2005' शीर्षक दिया गया।[63] विधेयक के उद्देश्यों में यह स्पष्ट किया गया कि यह औपनिवेशिक काल और आज़ादी के बाद जनजातियों के साथ हुए ऐतिहासिक अन्याय को दूर करना चाहता है; और यह जंगल में रहने वाली जनजातियों और जंगलों के बीच सहजीवी संबंधों को मान्यता देता है।[64]

इसमें यह प्रस्तावित किया गया कि वन निवासी अनुसूचित जनजातियों के हर न्यूक्लीयर (एकल) परिवार को जंगल की ज़मीन पर उसके 'अतिक्रमण की ज़मीन' के लिए पट्टा दिया जाएगा। लेकिन अधिकतम 2.5 हेक्टेयर ज़मीन का ही पट्टा दिया जाएगा और यह पट्टा पति-पत्नी दोनों के नाम से होगा। इन लोगों को लघुवनोपजों और जंगल के संसाधनों पर स्वामित्व का अधिकार भी दिया गया। इसमें वन गाँवों को राजस्व गाँवों में बदलने का प्रावधान भी किया गया। विधेयक के इस प्रारूप में यह तय किया गया कि इन अधिकारों के लिए 'कट ऑफ़ डेट' 24 अक्टूबर 1980 होगी। अर्थात् अधिकारों का दावा करने के लिए हर व्यक्ति को यह साबित करना था कि वह इस तारीख़ से पहले उस ज़मीन पर रह रहा है। इस विधेयक में इकॉलजी या वन्य जीवों की सुरक्षा के लिए भी प्रावधान किये गये। लोग अपनी ज़मीन बेच नहीं सकते थे, यह सिर्फ़ उनके बच्चों को मिल सकती थी; वे

---

[60] 1995 में तमिलनाडु के गुदालुर जिले के पूर्व भूमिपति टी.ऐन. गोदावर्मन थिरूमलपाद द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में एक जनहित याचिका दायर की गयी। गोदावर्मन ने यह याचिका अपने परिवार द्वारा लगाए गये जंगल की अवैध कटाई के ख़िलाफ़ दायर की थी। बाद में, सर्वोच्च न्यायालय ने इस मामले का दायरा बढ़ाते हुए इसमें जंगल से संबंधित सभी मुद्दों को शामिल कर लिया। इस केस के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय ने जंगलों के संबंध में बहुत ही सक्रिय भूमिका निभाई है। देखें, कैम्पेन (2004) : 4; अमरीन रोसेनक्राँन और शराचंद्र लेले (2008), 'सुप्रीम कोर्ट ऐंड इंडियाज़ फ़ॉरेस्ट', *इक्नॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 43, अंक 5; नवीन थाईल (2009). 'जुडिशियल फ़ियेट ऐंड कंटेम्परेरी ऐनक्लोज़र्स', *कंज़रवेशन ऐंड सोसायटी,* खण्ड 7, अंक 4.

[61] मधु सरीन (2005) : 2132.

[62] कमल नयन चौबे (यंत्रस्थ), *जंगल की हक़दारी : राजनीति और संघर्ष,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली : अध्याय 3.

[63] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2005 क), *शेड्यूल्ड ट्राइब्स (रेकॅग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स बिल) 2005,* मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स.

[64] वही : 1.

व्यावसायिक हितों के लिए इसका प्रयोग नहीं करते थे। विधेयक के इस प्रारूप में शिकार या वन्य जीवों को नुक़सान पहुँचाने पर भी पाबंदी लगायी गयी।[65]

अप्रैल 2005 में *जनजातीय मामलों के मंत्रालय* द्वारा इस विधेयक को सार्वजनिक विचार-विमर्श के लिए ज़ारी किया गया। इसके बाद इस पर तीखा वाद-विवाद शुरू हो गया। विधेयक के संबंध में मुख्य रूप से दो तरह की प्रतिक्रियाएँ सामने आयीं। पहले स्तर पर, संरक्षणवादियों के एक तबक़े ने इसे जंगल और जंगली जीवों के लिए बहुत ही ख़तरनाक घोषित किया। इन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि जंगली जानवरों को बचाने के लिए ज़रूरी है कि उन्हें मानवीय हस्तक्षेप से दूर रखा जाए।[66] दूसरा, विधेयक के समर्थकों ने विधेयक के पक्ष में अपने तर्क पेश किये। विधेयक के समर्थकों में आदिवासी संगठनों के अलावा विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसर, वकील और दूसरे कई प्रबुद्ध नागरिक शामिल थे। इन्होंने प्रस्तावित विधेयक पर संरक्षणवादियों के संदेहों को ख़ारिज किया। इनके अनुसार, वन-निवासियों को अधिकार दिये जाने से जंगल के बर्बाद होने और जंगली जीवों के ख़तरे में पड़ने का तर्क भी सही नहीं है क्योंकि आदिवासियों ने ही जंगल और जंगली जीवों की रक्षा की है। भारतीय संदर्भ में जंगली जानवरों के लिए मानवरहित क्षेत्र की बात करना प्रासंगिक नहीं है क्योंकि यहाँ आदिवासी और जंगलों के बीच में सहजीवी संबंध रहा है।[67]

क़ानून के लिए चलने वाले आंदोलन के राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में 'इज्जत से जीने का अधिकार अभियान' (कैम्पेन फॉर सर्वाइवल ऐंड डिग्निटी) की बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इससे बहुत से राज्य स्तरीय आदिवासी संगठन जुड़े हुए थे। फिर ये राज्य स्तरीय संगठन अपने राज्य के कई छोटे संगठनों से जुड़े हुए थे।

आदिवासी जनसंगठनों द्वारा और अकादमिक स्तर पर चलने वाले वाद-विवाद में इस विधेयक में कई संशोधन करने की माँग की गयी। मोटे तौर पर इसमें तीन बातों पर ज़ोर दिया गया : पहला, ग़ैर अनुसूचित जनजाति वनवासी समुदाय भी विधेयक में शामिल किये जाने चाहिए। दूसरा, अधिकारों को मान्यता देने की आख़िरी तारीख़ या 'कट ऑफ़ डेट' को 1980 तक रखना ग़लत है। इसे और आगे बढ़ाया जाना चाहिए क्योंकि उसके बाद भी बहुत से परिवार विस्थापित हुए हैं। तीसरा, अधिकार तय करने की प्रक्रिया में ग्राम सभा को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। चौथा, गाँवों की परिभाषा पेसा क़ानून में दी गयी परिभाषा के अनुसार होनी चाहिए।[68]

आदिवासी संगठनों ने इस क़ानून के पक्ष में सन् 2002 से ही लोगों को गोलबंद करना शुरू

---

[65] कमल नयन चौबे, (यंत्रस्थ) : अध्याय 3.

[66] मसलन, देखें, एम. डी. मधुसूदन (2005), 'ऑफ़ राइट्स ऐंड रॉन्ग्स : वाइल्ड लाइफ़ कंजरवेशन ऐंड द ट्राइबल बिल', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 47.; उल्लास कारंत और प्रवीण भार्गव (2005), 'डि-फ्रैगमेंटिंग नेचर', *सेमिनार* 552: 60; पी. वी. जयकृष्णन (2005), 'इज़ देयर अ नीड फ़ॉर दिस बिल?' *सेमिनार* 552 : 23; देबी गोयनका (2005), 'अ नॉन सोल्यूशन' *सेमिनार* 552: 36.

[67] आशीष कोठारी (2005): 66; मधु सरीन (2005); प्रदीप प्रभु (2005), 'द राइट टू लिव विद डिग्निटी', *सेमिनार 552.*

[68] मसलन देखें बेला भाटिया (2005), *'कंपीटिंग कन्सर्न्स', इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 47; इंद्रा मुंशी *(2005).* 'शेड्यूल्ड ट्राइब्स बिल, 2005', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 50, अंक 41. माधुरी कृष्णस्वामी (2005); फ़ॉरेस्ट डायलॉग सेमिनार (2005), *प्रेस रिलीज़,* आयोजन स्थल— दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकनॉमिक्स, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 23-24 सितम्बर; बेला भाटिया, नंदिनी सुंदर और वर्जीनियस खाखा (2005), 'शेड्यूल्ड ट्राइब्स बिल 2005', *इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड* 40, अंक 43.

कर दिया था। इसी कारण, क़ानून बनने की प्रक्रिया की भी शुरुआत हुई। अप्रैल 2005 में विधेयक का प्रारूप सामने आने पर इसके लिए व्यापक आंदोलन की शुरुआत हुई। इस क़ानून के लिए चलने वाले आंदोलन में कई स्तरों पर विभिन्न संगठनों ने हिस्सेदारी की। पहला, क़ानून के लिए चलने वाले आंदोलन के राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में 'इज़्ज़त से जीने का अधिकार अभियान' (कैम्पेन फ़ॉर सर्वाइवल ऐंड डिग्निटी) की बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इससे बहुत से राज्य स्तरीय आदिवासी संगठन जुड़े हुए थे। फिर ये राज्य स्तरीय संगठन अपने राज्य के कई छोटे संगठनों से जुड़े हुए थे। दूसरा, बहुत से संगठनों ने स्वतंत्र रूप से भी काम किया। इन्होंने स्थानीय स्तर पर आदिवासियों को विधेयक के पक्ष में गोलबंद करने की कोशिश की। 'राष्ट्रीय वन जन श्रमजीवी मंच' और दूसरे कई संगठनों ने भी इस क़ानून के पक्ष में अभियान चलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। तीसरा, इस तरह के अभियानों ने संसदीय राजनीति से जुड़े दलों के कार्यकर्त्ताओं को भी इस विधेयक का समर्थन करने के लिए प्रेरित किया। वामपंथी दलों ने विधेयक में आदिवासी संगठनों द्वारा सुझाये गये संशोधनों का समर्थन किया।[69]

आदिवासियों के आंदोलनों एवं वामपंथी दलों के दबाव के कारण मजबूर होकर यूपीए सरकार ने 13 दिसम्बर, 2005 को संसद में यह विधेयक पेश किया। यह विधेयक अप्रैल 2005 में सार्वजनिक बहस के लिए जारी किये गये विधेयक से काफ़ी मिलता-जुलता था। लेकिन इसमें संरक्षणवादियों की चिंता को दूर करने के लिए 'मुख्य क्षेत्र' का विचार शामिल किया गया। यह प्रावधान अप्रैल 2005 के विधेयक में मौजूद नहीं था। इसमें संरक्षित क्षेत्रों के वन्य जीवों के लिए महत्त्वपूर्ण 'मुख्य क्षेत्र' से लोगों के दूसरी जगहों पर बसाने का प्रावधान किया गया था।[70] लेकिन इसके अलावा, इसमें बहुत कम बदलाव किये गये थे। इसमें आदिवासी आंदोलनों द्वारा सुझाया गया कोई संशोधन शामिल नहीं किया गया था। विधेयक की विवादपूर्ण स्थिति और दूरगामी प्रभाव को देखते हुए सरकार ने इसे लोक सभा में पेश करने के बाद जेपीसी को सौंप दिया। जेपीसी को विधेयक के सभी पहलुओं पर विचार करके यह बताना था कि इसे किस रूप में पारित किया जाना चाहिए।

2. दूसरा चरण : जेपीसी की सिफ़ारिशें और क़ानून के लिए संघर्ष

जेपीसी ने मई 2006 में अपनी रिपोर्ट पेश की। इसने अपनी सर्वसम्मत रिपोर्ट में आदिवासी आंदोलनों की ओर से सामने आयी तक़रीबन सभी प्रमुख माँगों को स्वीकार कर लिया। पहला, विधेयक में 'ग़ैर-अनुसूचित जनजाति वन-निवासी' लोगों की एक नयी श्रेणी बनायी गयी। इसमें गैर-अनुसूचित जनजाति समूहों के उन लोगों को शामिल करने का प्रस्ताव किया गया, जो जंगल की ज़मीन पर तीन पीढ़ियों से रह रहे हों। दूसरा, अधिकारों को मान्यता देने की आख़िरी तारीख़ या 'कट ऑफ़ डेट' बढ़ाकर 13 दिसम्बर, 2005 कर दी गयी। तीसरा, अधिकार तय करने में ग्राम सभा को आख़िरी प्राधिकार दिया गया। इसमें पेसा में दी गयी गाँव की परिभाषा स्वीकार की गयी। चौथा, आदिवासियों को दी जाने वाली ज़मीन पर कोई अधिकतम सीमा नहीं लगायी। जेपीसी ने विधेयक में एक नयी धारा जोड़ते हुए प्रावधान यह भी किया कि सरकार स्थानीय समुदायों की सहमति और स्वीकृति से ही ज़मीन का अधिग्रहण या स्थानान्तरण कर सकती है।[71] लेकिन इसने 1927 के वन

---

[69] कमल नयन चौबे, (सद्यप्रकाशित) : अध्याय 3.

[70] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2005ख), *शेड्यूल्ड ट्राइब्स (रेकॅग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स बिल) 2005, बिल नंबर 158 ऑफ़ 2005*, मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफेयर्स. : धारा 4 (1).

[71] जेपीसी की रिपोर्ट (2006), *ज्वाइंट कमिटी ऑन द शेड्यूल्ड ट्राइब्स (रेकॅग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स) बिल, 2005: रिपोर्ट ऑफ़ द ज्वाइंट कमिटी*, लोकसभा सेक्रेटेरियट, नयी दिल्ली.

अधिनियम की सर्वोच्चता ख़त्म करने की सिफ़ारिश नहीं की। जेपीसी ने संरक्षणवादियों की चिंताओं को कोई महत्त्व नहीं दिया। संरक्षणवादियों ने जेपीसी की सिफ़ारिशों की आलोचना की। ख़ास तौर पर, नेशनल पार्कों में भी स्थानीय समुदायों के अधिकार देने को ग़लत माना गया।[72]

जेपीसी की सिफ़ारिशों ने इस विधेयक की राजनीतिक वैधता बढ़ायी। लेकिन सरकार के लिए जेपीसी की सिफ़ारिशें स्वीकार करना आसान नहीं था। इसका एक स्पष्ट कारण संरक्षणवादियों का विरोध था। दूसरा कारण यह था कि जेपीसी की सिफ़ारिशें क्रांतिकारी थीं। इन्हें लागू करने का मतलब यह था कि राज्य अपनी बहुत सी शक्तियाँ ग्राम सभा और स्थानीय समुदायों को दे दे। राज्य के लिए ऐसा करना बहुत ही मुश्किल था। इसलिए सरकार टालमटोल का रवैया अपनाती रही। आदिवासी संगठनों ने जेपीसी की सिफ़ारिशों के साथ वन अधिकार विधेयक को संसद से पारित करने की माँग की और उन्होंने अपना संघर्ष तेज़ कर दिया। ज़िला और राज्य स्तर पर चलाए जा रहे आंदोलनों के साथ ही साथ दिल्ली में भी कई लम्बे धरने और बड़ी रैलियों का आयोजन किया गया। दिल्ली में होने वाले धरने में सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों ने शिरकत की और इस क़ानून के प्रति अपना समर्थन जताया।[73]

आदिवासी संगठनों ने अपनी गोलबंदी के माध्यम से संसद से वन अधिकार क़ानून पारित करवाया। साथ ही, इन्होंने इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण बदलाव हासिल करवाने में भी सफलता पाई। ... लेकिन यह भी सच है कि राज्य ने उनकी सभी माँगें स्वीकार नहीं कीं। क़ानून में कई ऐसे प्रावधान हैं जो राज्य का दख़ल और नियंत्रण बहुत ज़्यादा बढ़ा सकते हैं।

व्यापक जन आंदोलन और राजनीतिक दलों के दबाव के कारण सरकार ने वन अधिकार विधेयक संसद में पेश किया। 15 दिसम्बर को लोकसभा और 17 दिसम्बर को राज्यसभा ने यह क़ानून पारित कर दिया। 29 दिसम्बर को राष्ट्रपति ने इस पर अपने दस्तख़त कर दिये।[74] आदिवासी संगठनों ने इसे एक ऐतिहासिक जीत माना। लेकिन उन्होंने संसद से पारित अधिनियम से नाख़ुशी भी ज़ाहिर की क्योंकि इसमें से जेपीसी रिपोर्ट की कई सिफ़ारिशें हटा दी गयी थीं। मसलन, पहला, इसमें जेपीसी की रिपोर्ट के विपरीत हर न्यूक्लीयर परिवार के लिए ज़मीन की मात्रा 4 हेक्टेयर तय की गयी। दूसरा, अधिकार तय करने की प्रक्रिया में ग्राम सभा को आख़िरी प्राधिकार (या अथॉरिटी) नहीं माना गया। इसी तरह, सिर्फ़ पाँचवीं अनुसूची के गाँवों के लिए ही पेसा के गाँव की परिभाषा स्वीकार की गयी। तीसरा, ग़ैरअनुसूचित जनजाति लोगों के लिए यह प्रावधान किया गया कि उन्हें यह साबित करना होगा कि वे जिस ज़मीन पर पट्टे की माँग कर रहे हैं, उस पर पिछले 75 सालों से रह रहे हैं। इसके अलावा, क़ानून में कई शब्दों की परिभाषाएँ स्पष्ट नहीं की गयीं। इस क़ानून द्वारा 1927 का वन अधिनियम ख़त्म किया गया। दूसरी ओर, संरक्षणवादियों ने अपनी पुरानी आलोचनाएँ क़ायम रखीं। इनकी आलोचना के कारण ही इस क़ानून को लम्बे समय तक अधिसूचित (या नोटिफाई) नहीं किया गया। आख़िरकार 'कैम्पेन' द्वारा चलाए जा रहे आंदोलनों और वामपंथी दलों के दबाव के कारण इस क़ानून को 1 जनवरी 2008 को अधिसूचित किया।[75]

---

72 आशीष कोठारी (2006), 'मिस द ट्रीज़ फ़ॉर द वुड', *द हिंदुस्तान टाइम्स*, दिल्ली, 2 जून.

73 कमल नयन चौबे, (यंत्रस्थ) : अध्याय 3.

74 अर्चना प्रसाद (2007) : 'सर्वाइवल ऐट स्टेक', *फ्रंटलाइन*, खण्ड 23, अंक 26: 4.

75 कमल नयन चौबे, (यंत्रस्थ) : अध्याय 3.

स्पष्ट तौर पर, आदिवासी संगठनों ने अपनी गोलबंदी के माध्यम से संसद से वन अधिकार क़ानून पारित करवाया। साथ ही, इन्होंने इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण बदलाव हासिल करवाने में भी सफलता पायी। मसलन, विधेयक का पहला प्रारूप सिर्फ़ अनुसूचित जनजातियों से संबंधित था; संसद से पारित क़ानून में 'अन्य पारम्परिक वन निवासियों' के रूप में एक नयी श्रेणी शामिल की गयी। इसी तरह, पहले प्रारूप में 'कट ऑफ़ डेट' 1980 थी और हर न्यूक्लीयर परिवार के लिए 2.5 हेक्टेयर ज़मीन का पट्टा देने का प्रावधान था; लेकिन संसद से पारित क़ानून में 'कट ऑफ़ डेट' 13 दिसम्बर 2005 हो गयी। इसमें यह प्रावधान है कि हर न्यूक्लीयर परिवार को अधिकतम 4 हेक्टेयर ज़मीन का पट्टा दिया जाएगा।[76] लेकिन यह भी सच है कि राज्य ने उनकी सभी माँगें स्वीकार नहीं कीं। क़ानून में कई ऐसे प्रावधान हैं जो राज्य का दख़ल और नियंत्रण बहुत ज़्यादा बढ़ा सकते हैं। मसलन, अगर 'अन्य पारम्परिक वन निवासियों' की श्रेणी में आने वाले परिवार यह साबित नहीं कर पाते हैं कि वे एक स्थान पर तीन पीढ़ियों यानी 75 सालों से रह रहे हैं, तो उन्हें इस क़ानून के तहत अधिकार नहीं मिलेगा। उन्हें अपनी ज़मीन से बेदख़ल भी होना पड़ सकता है।

IV

क़ानून का निर्माण और 'हाशिया समाज' की सक्रियता

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट है कि पेसा और वन अधिकार क़ानून— दोनों में ही आदिवासियों और आदिवासी इलाक़ों में काम करने वाले जन संगठनों की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। पेसा जहाँ पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में ग्राम सभा को मज़बूत बनाकर लोगों को उनके संसाधनों पर हक़ देने का प्रावधान करता है, वहीं वन अधिकार क़ानून पूरे देश के जंगलों पर लागू होता है। यह क़ानून लोगों को जंगल की ज़मीन पर निजी और सामुदायिक सम्पत्ति का अधिकार देता है। वन अधिकार क़ानून का दायरा पेसा की तुलना में ज़्यादा व्यापक है। बहरहाल, कई बार यह तर्क दिया जाता है और काफ़ी हद तक यह सच भी है कि पेसा की पूरी तरह उपेक्षा की गयी है और अधिकांश मौक़ों पर इसका उल्लंघन किया गया है।[77] यह तर्क भी दिया जाता है कि असल में वन अधिकार क़ानून जंगल के क्षेत्र को ज़्यादा स्पष्ट या 'लेजिबल' बनाने की कोशिश है और इसके पीछे नव-उदारवादी एजेंडा काम कर रहा है।[78] कई बार इसका वर्णन सत्ताधारी पार्टी की पॉपुलिस्ट (लोकलुभावन) नीति के रूप में किया जाता है,[79] या इसे माओवादियों के ख़िलाफ़ वैधता पाने की राज्य की कोशिश के रूप में भी देखा जाता है। दूसरी ओर, आदिवासी संगठन इन क़ानूनों को अपनी जीत के रूप में पेश करते रहे हैं। मेरा यह मानना है कि ये दोनों ही नज़रिये अतिवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसमें क़ानून बनने की प्रक्रिया की समझ का कोई गहरा आधार नहीं मिलता है।

---

[76] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007), *शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड अदर ट्रेडिशनल फ़ॉरेस्ट ड्वैलर्स (रेकॅग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स) एक्ट 2006,* मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस, दिल्ली.

[77] देखें नंदिनी सुंदर (2011), 'द रूल ऑफ़ लॉ ऐंड प्रॉपर्टी : लॉ स्ट्रगल्स ऐंड नियो-लिबरल स्टेट इन इंडिया', अखिल गुप्ता और के. शिवरामकृष्णन (सम्पा.), *स्टेट इन इंडिया ऑफ्टर लिबरलाइज़ेशन,* रॉटलेज, लंदन.

[78] श्रीशा नायडू (2011), 'द पोटेंशियल ऑफ़ द फ़ॉरेस्ट राइट्स एक्ट, 29 जनवरी, वेब पता : http://sanhati.com/excerpted/xv~|/, 22 जून, 2011 को देखा गया; सव्यसाची (2010). 'एफ़आरए 2006 : इन व्हूज़ इनरेस्ट ?', *सोशल ऐक्शन : अ क्वाटर्ली रिव्यू ऑफ़ सोशल ट्रेंड्स,* खण्ड 60, अंक 2; (2011), 'फ़ॉरेस्ट राइट्स एक्ट 2006 : अंडरमाइनिंग द फ़ाउंडेशनल पोजिशन ऑफ़ द फ़ॉरेस्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 46, अंक 15.

[79] वेलुथायम सरवनन (2009), 'पॉलिटिकल इकनॉमी ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स एक्ट 2006: कांफ़िलक्ट बिटवीन ऐनवायरनमेंट ऐंड ट्राइबल डिवेलपमेंट', *साउथ एशिया रिसर्च,* खण्ड 29, अंक 3.

हम पेसा और वन अधिकार क़ानून के निर्माण को मुख्यधारा के समाज से अलग-थलग हाशिये पर पड़े वनाश्रित समुदायों की राजनीति के नतीजे के रूप में देख सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं यह दलील दे रहा हूँ कि क़ानून की कोई नियंत्रणकारी भूमिका नहीं है।

यह एक तथ्य है कि क़ानून हमारी ज़िंदगी के हर पहलू को प्रभावित करते हैं। हम चाहें या न चाहें रोज़मर्रा की ज़िंदगी में हमारा सामना बहुत से क़ानूनों से होता है। बहुत से विद्वानों ने क़ानून पर अलग-अलग तरीक़े से विचार किया है। अपने अध्ययन की सुविधा के लिए सरल रूप में हम क़ानूनों को दो भागों में बाँट सकते हैं। पहला, राज्य या सम्प्रभु राज्य के मामलों का नियंत्रण और नियमन करने के लिए बहुत से क़ानून बनाते हैं। इसी आधार पर बहुत से मार्क्सवादी चिंतकों ने क़ानून को सामाजिक असमानता और शोषण को छिपाने का साधन मानते हुए इसकी आलोचना की है।[80] फ़ूको का अनुसरण करते हुए बहुत से विद्वानों ने यह दिखाया है कि राष्ट्रीय भू-क्षेत्रों का सर्वे और मैपिंग तथा जनसंख्या की गणना और वर्गीकरण शक्ति की तकनीक रहे हैं। इन्होंने सामाजिक जीवन को ज़्यादा स्पष्ट (या लेजिबल) बनाया है। इससे उनका तार्किक नियंत्रण आसान हो गया है।[81] सबॉल्टर्न विचारक भी क़ानून को आम लोगों को नियंत्रित करने का साधन मानते हुए इसकी आलोचना करते हैं। रणजीत गुहा ने इसी अर्थ में क़ानून को 'राज्य के दूत' की संज्ञा दी है।[82] देरिदा ने यह तर्क दिया है कि क़ानून व्यक्तियों या समूहों के अनूठेपन से असंगत है।[83] ऐसे भी विचारक हैं जो यह मानते हैं कि 'लॉफ़ेयर' या नियंत्रण की तकनीक के रूप में क़ानून का प्रयोग नव-उदारवादी विश्व की राजनीति की मुख्य विशेषता है।[84]

दूसरी श्रेणी में ऐसे क़ानूनों को रखा जा सकता है कि जिनकी माँग आम लोगों द्वारा अपना जीवन बेहतर बनाने के लिए की जाती है। बहुत से विचारक यह मानते हैं कि क़ानून में लोगों को सशक्त बनाने की क्षमता होती है। सिर्फ़ उदारवादी विचारक ही इस तरह का तर्क नहीं देते हैं। मसलन, मार्क्सवादी विद्वान नैंसी फ्रेज़र ने यह तर्क दिया है कि मूल्यांकन और समीक्षा द्वारा क़ानून बेहतर बनाये जा सकते हैं।[85] जूलिया एकर्ट ने शहरी भारत में ग़रीबों द्वारा क़ानूनों के अपने पक्ष में इस्तेमाल करने की परिघटना का विश्लेषण करते हुए 'ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद' ('लीगलिज़म फ्रॉम बिलो') की संज्ञा दी है।[86] फ़ूको से ही प्रभावित ऐसे कई शोध हुए हैं जिनमें रोज़मर्रा की ज़िंदगी में राज्य सत्ता

---

80 मसलन, निकोलस पोलंताज़ (1978), *स्टेट, पावर ऐंड सोशलिज़म* (अनुवाद पैट्रिक कैमिलर), न्यू लेफ्ट बुक्स, लंदन.

81 जेम्स सी. स्कॉट (1998). *सीइंग लाइक अ स्टेट : हाउ सर्टेन स्कीम्स टू इम्प्रूव द ह्यूमन कंडीशंस हैव फेल्ड,* येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवेन ऐंड लंदन.

82 रणजीत गुहा (1987), 'चंद्राज़ डेथ', रणजीत गुहा (सम्पा.), सबाल्टर्न स्टडीज़, खण्ड 5, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी, दिल्ली; उपेंद्र बख़्शी (1992).

83 ज़ाक देरिदा, (1992). 'फोर्स ऑफ़ लॉ : द मिस्टीकल फ़ाउंडेशन ऑफ़ अथॉरिटी' (अनुवाद : मैरी क्वेन्टेंस), डूसिला कॉरनेल, मिशेल रोज़नेफ़ील्ड और डेविड ग्रे कॉल्सन (सम्पा.), *डिकंस्ट्रक्शन ऐंड द पॉसिबिलिटी ऑफ़ जस्टिस,* रौटलेज, न्यूयॉर्क.

84 जे.एल. कोमारॉफ़ और जे. कोमारॉफ़ (2006), 'लॉ ऐंड डिसऑर्डर इन द पोस्ट-कॉलोनी : ऐन इंट्रोडक्शन', जे.एल. कोमॉराफ़ और जे. कोमारॉफ़ (सम्पा.), *लॉ ऐंड डिसऑर्डर इन पोस्ट-कोलोनी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

85 नैंसी फ्रेज़र (1999). 'द फ़ोर्स ऑफ़ लॉ : मेटाफ़िज़िकल ऑर पॉलिटिकल', मैनफ्रेड बी. स्टेजर और नैंसी एस. लिंड (सम्पा), *वायलेंस ऐंड इट्स अल्टरनेटिव्ज़ : ऐन इंटर डिसिप्लिनरी रीडर,* मैकमिलन प्रेस लिमिटेड, लंदन.

86 जूलिया एकर्ट (2006). 'फ्रॉम सब्जेक्ट्स टू सिटीज़न्स : लीगलिज़म फ्रॉम बिलो ऐंड द होमोजनाइज़ेशन ऑफ़ लीगल स्फ़ियर', *जरनल ऑफ़ लीगल प्लूरलिज़म,* अंक 53-54.

की तकनीक और गवर्नमेंटैलिटी (या प्रशासकीयता) की विवादपूर्ण प्रकृति पर ध्यान दिया गया है। इस तरह के लेखन में राज्य और समाज के बीच की सीमा छिद्रयुक्त या 'पोरस' मानते हुए इसमें यह दलील दी गयी है कि राज्य और समाज का एक-दूसरे में प्रवेश हो गया है। इसलिए इसमें इसके कारण सामने आने वाले 'रोज़मर्रा के राज्य' के अध्ययन पर ज़ोर दिया गया है।[87] इसके अनुसार, नौकरशाही प्रक्रियावाद राज्य की शक्ति बनाती है और उसे क़ायम रखती है, लेकिन यह प्रतिरोध का एक साधन भी उपलब्ध करा सकती है। यह एक ऐसा प्रमुख क्षेत्र है जहाँ हम 'हाशिये' पर राज्य और समाज की व्याख्या कर सकते हैं[88] या 'शासितों की राजनीति'[89] का परीक्षण कर सकते हैं। मैं यह तर्क देना चाहता हूँ कि हम पेसा और वन अधिकार क़ानून के निर्माण को मुख्यधारा के समाज से अलग-थलग हाशिये पर पड़े वनाश्रित समुदायों की राजनीति के नतीजे के रूप में देख सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं यह दलील दे रहा हूँ कि क़ानून की कोई नियंत्रणकारी भूमिका नहीं है। निश्चित रूप से ऐसा है लेकिन पेसा और वन अधिकार क़ानून यह दिखाते हैं कि हाशिये पर पड़े हुए समूह भी अपने लिए बेहतर क़ानून हासिल कर सकते हैं। इस परिघटना की समझ के लिए मैं हाशिया समाज (या मार्जिनल सोसाइटी) की संकल्पना पेश करना चाहता हूँ। यह संकल्पना पार्थ चटर्जी के राजनीतिक समाज की संकल्पना के कुछ बुनियादी मान्यताओं को स्वीकार करती है। लेकिन वन-निवासी समूहों की राजनीति की व्याख्या के लिए मैंने इसमें कुछ बुनियादी बदलाव करते हुए इसका विस्तार किया है।

चटर्जी यह मानते हैं कि उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में नागरिक समाज और राजनीतिक समाज के रूप में दो समूह होते हैं। नागरिक समाज के पास व्यावहारिक रूप से नागरिक अधिकार होते हैं, जबकि राजनीतिक समाज कभी-कभार नागरिकता के कुछ अधिकारों का उपयोग कर लेता है। जीविका की तलाश में इसके अधिकांश काम ग़ैरक़ानूनी दायरे में चले जाते हैं। ये समूह गवर्नमेंटैलिटी पर अपना दावा करते हैं और राज्य इनके दावों को स्वीकार करता है और इस रूप में जनसंख्या के ऐसे समूहों को तदर्थ रूप से कुछ 'छूट' या सुविधाएँ दी जाती हैं। चटर्जी यह भी मानते हैं कि उत्तर-उदारीकरण के दौर में कॉरपोरेट पूँजी का 'हेजिमनि के बग़ैर प्रभुत्व' क़ायम है, लेकिन लोकतंत्र की गहराई मिलने के कारण राजनीतिक समाज के लोग अपने लिए राज्य से कुछ सुविधाएँ हासिल करने में समर्थ होते हैं।[90]

मैं यह तर्क पेश करना चाहता हूँ कि उत्तर-औपनिवेशिक लोकतंत्रों की राजनीति समझने के लिए नागरिक समाज और राजनीतिक समाज के बीच का बुनियादी विभाजन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। राज्य में वर्ग शक्ति और कॉरपोरेट पूँजी के प्रभुत्व के बारे में चटर्जी का विश्लेषण ठीक है। चटर्जी रोज़मर्रा की राजनीति पर ज़ोर देते हैं, लेकिन अपने बाद के लेखन में वे राजनीतिक समाज की गतिविधियों को कुछ तदर्थ फ़ायदों के लिए लेन-देन तक सिमटा देते हैं। मेरा यह मानना है कि हम इस अवधारणा के प्रयोग से आदिवासियों/वनाश्रितों की राजनीति की सही समझ विकसित नहीं

---

87 सी.जे. फ़ुलर और वेरेनिक बेनयी (सम्पा.) (2000), *द एवरेडी स्टेट ऐंड सोसाइटी इन मॉडर्न इंडिया,* सोशल साइंस प्रेस, नयी दिल्ली; आराधना शर्मा, और अखिल गुप्ता (2006). '*इंट्रोडक्शन*', ए. शर्मा और ए. गुप्ता (सम्पा.), *द एंथ्रोपोलॉजी ऑफ़ द स्टेट : अ रीडर,* ब्लैकवेल, एम. ए.

88 वीणा दास और डेब्रा पुल (सम्पा.) (2004), *एंथ्रोपोलॉजीज इन द मार्जिन्स ऑफ़ स्टेट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली; करॉल उपाध्या (2009), 'लॉ कस्टम ऐंड आइडेंटिटी : पॉलिटिक्स ऑफ़ लैंड राइट्स इन छोटा नागपुर', नंदिनी सुंदर (सम्पा.), *लीगल ग्राउंड्स : नैचुरल रिसोर्सेज़, आइडेंटिटी ऐंड लॉ इन झारखण्ड,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

89 पार्थ चटर्जी (2004), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ गवर्न्ड : रिफ़्लेक्शन्स ऑन द पॉलिटिक्स ऑफ़ वर्ल्ड,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

90 पार्थ चटर्जी (2004); (2011), *लीनियेजिज़ ऑफ़ पॉलिटिकल सोसायटी : स्टडीज़ इन पोस्ट-कोलोनियल डेमॉक्रैसीज़,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत; (2012), 'द डिबेट ओवर पॉलिटिकल सोसायटी', अजय गुडुवर्थी (सम्पा), *रिफ़्रेमिंग डेमॉक्रैसी ऐंड एजेंसी इन इंडिया : इंटेरोगेटिंग पॉलिटिकल सोसायटी,* एंथम प्रेस, लंदन.

कर सकते हैं। ख़ुद चटर्जी यह तर्क देते हैं वनोपजों पर निर्भर जनजातीय लोग राजनीतिक समाज के रूप में ख़ुद को संगठित नहीं कर सकते हैं।[91] इसलिए मैं राजनीतिक समाज के बारे में ऊपर बतायी गयी कुछ बातों को स्वीकार करने के बावजूद यह तर्क दूँगा कि इन समूहों की राजनीति को समझने के लिए हमें राजनीतिक समाज के विश्लेषण से आगे जाने की आवश्यकता है। मैं इन समूहों की गतिविधियों, आंदोलनों और संघर्षों का वर्णन करने के लिए 'हाशिया समाज' या 'मार्जिनल सोसाइटी' शब्द का प्रयोग करूँगा। यह समाज जंगलों पर निर्भर और उसके आस-पास के क्षेत्रों में रहने वाले लोगों का समाज है। हाशिया समाज की मुख्य विशेषताएँ निम्नालिखित बिंदुओं के माध्यम से स्पष्ट की जा सकती हैं :

पहला, राजनीतिक समाज की तरह ही हाशिया समाज के लोगों की कई गतिविधियाँ भी 'ग़ैरक़ानूनी' की श्रेणी में आ जाती हैं। मसलन, कई जगहों पर ये 'अतिक्रमक' के रूप में होते हैं या राज्य की प्रतिनिधि संस्था के रूप में वन विभाग द्वारा जंगल में इनकी गतिविधियों को 'ग़ैरक़ानूनी' दर्ज़ा दे दिया जाता है।

दूसरा, हाशिया समाज को राजनीतिक रूप से जागरूक बनाने में उन व्यक्तियों या संगठनों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है, जिन्हें अमूमन नागरिक समाज के खाते में दर्ज किया जा सकता है। मसलन, आदिवासी क्षेत्रों में काम करने वाले अधिकांश संगठनों में नेतृत्व के स्तर पर ग़ैर-आदिवासियों की संख्या ज़्यादा है। पिछले दो दशकों में इसमें आदिवासियों की संख्या में भी बढ़ोत्तरी हुई है। इन संगठनों में नेतृत्व के स्तर पर काम करने वाले आदिवासी या ग़ैर-आदिवासी— दोनों की ही पृष्ठभूमि ऐसी है कि इन्हें मध्य वर्ग और नागरिक समाज के सदस्य के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। पेसा के लिए संघर्ष करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले भारत जन आंदोलन में नेतृत्व करने वाले ऐसे ही लोग थे। मसलन, डॉ. बी. डी. शर्मा ख़ुद एक सेवानिवृत्त नौकरशाह हैं। इसी तरह, वन अधिकार क़ानून के लिए संघर्ष करने वाले समूहों में 'कैम्पेन' या 'राष्ट्रीय वन जन श्रमजीवी मंच' से जुड़े सदस्य भी नागरिक समाज की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। कई क्षेत्रों में माओवादियों ने भी इस तरह की जागरूकता लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसमें भी नेतृत्व के स्तर पर उन लोगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, जो अमूमन 'बाहरी' होते हैं और जिन्हें अपनी शिक्षा और आर्थिक पृष्ठभूमि के आधार पर मध्य वर्ग या नागरिक समाज का सदस्य माना जा सकता है। बहरहाल, माओवादी क़ानून के लिए संघर्ष या क़ानून द्वारा संघर्ष को बहुत ही नकारात्मक तरीक़े से देखते हैं। इस कारण इन्हें हाशिया समाज से अलग किया जा सकता है, क्योंकि इसका एक प्रमुख आधार क़ानून के प्रति जागरूकता और इसके लिए या इसके माध्यम से संघर्ष करने की प्रवृत्ति है।

तीसरा, इस समाज के लोगों में क़ानून के बारे में जागरूकता काफ़ी बढ़ी है। वन-विभाग की मौजूदगी और लोगों के ख़िलाफ़ मनमाने तरीक़े से क़ानूनों के उपयोग, और ज़मीनी स्तर पर काम करने वाले संगठनों की गतिविधियों के कारण लोग क़ानून, इसके दुरुपयोग और इसकी सम्भावनाओं के बारे में बहुत ज़्यादा सचेत हुए हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि इस समाज से जुड़े अधिकांश लोग क़ानूनों के विशेषज्ञ हो गये हैं। लेकिन यह ज़रूर है कि वे अपनी ज़िंदगी में क़ानूनों की भूमिका के बारे में जागरूक हुए हैं। इस लिहाज़ से बेहतर क़ानूनों के लिए संघर्ष और बुरे क़ानूनों के विरोध की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। वन अधिकार क़ानून के निर्माण में इनकी भागीदारी इसी जागरूकता को दर्शाती है। अपने फ़ील्ड-वर्क़ के दौरान मैंने यह पाया कि लोगों को पेसा या वन अधिकार क़ानूनों

---

[91] पार्थ चटर्जी (2008), 'डेमॉक्रैसी ऐंड इकनॉमिक ट्रांसफ़ॉरमेशन इन इंडिया', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 43, अंक 16.

आदिवासी इलाक़ों में ज़मीनी स्तर से उभरे क़ानूनवाद ने ही लोगों को पेसा और वन अधिकार क़ानून जैसे प्रगतिशील क़ानूनों की माँग करने के लिए प्रेरित किया है। यहाँ यह ध्यान देने की ज़रूरत है कि ये क़ानून आंदोलनों की इच्छा के अनुसार सामने नहीं आए। दोनों ही क़ानूनों में राज्य ने काफ़ी कटौतियाँ कीं। इन कटौतियों का मुख्य कारण यह है कि हाशिया समाज की गोलबंदी तुलनात्मक रूप से सीमित थी।

के प्रावधानों की मोटे तौर पर समझ है और वे इसके आधार पर अपने हक़ की भी माँग कर रहे हैं। दरअसल, क़ानूनों के महत्त्व के प्रति जागरूकता और बेहतर क़ानूनों के लिए संघर्ष या इन क़ानूनों का राज्य के ख़िलाफ़ प्रयोग ने 'ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद' (या लीगलिज़म फ्रॉम बिलो) की स्थिति पैदा की है।

चौथा, राज्य इन्हें उन समूहों के साथ जोड़ता है जो गवर्नमेंटैलिटी के दायरे से बाहर हैं। इस तरह का जुड़ाव या इसके अंदेशे ने इनकी माँगों के माने जाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। मसलन, वन अधिकार क़ानून (और इसके पहले पेसा) के पारित होने के पीछे माओवादियों के बढ़ते प्रभाव का डर भी एक संजीदा कारक था। दरअसल, भारत में पिछले कुछ वर्षों में नक्सलवादी (माओवादी) आंदोलन का तेज़ी से प्रसार हुआ है। ख़ास तौर पर, जंगल के क्षेत्रों में नक्सलवादियों का ज़्यादा तेज़ी से प्रसार हुआ है। एक समूह के रूप में नक्सलवादियों को गवर्नमेंटैलिटी के बाहर पड़े समूहों के रूप में देखा जा सकता है। पेसा और वन अधिकार क़ानून जैसे क़ानूनों के पीछे राज्य की यह मंशा भी रही है कि जंगल और इसके आस-पास के इलाक़ों में रहने वाले और इसके संसाधनों पर निर्भर आदिवासियों के बीच में उसकी वैधता क़ायम रहे। स्पष्टत: इन क़ानूनों के पारित होने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि राज्य यह नहीं चाहता था कि आदिवासी इलाक़ों में नक्सलवादियों का प्रभाव बढ़े।[92]

पाँचवाँ, राज्य गवर्नमेंटैलिटी पर इनके दावों पर 'लेन-देन' का रुख़ अपनाता है। अर्थात् राज्य हाशिया समाज की गोलबंदी के आधार पर ही इसकी माँगें स्वीकार करता है। दूसरे शब्दों में यह अपनी गोलबंदी द्वारा राज्य को इस बात के लिए मज़बूर करता है कि वे उसे कुछ निश्चित अधिकार दें। यदि इसकी गोलबंदी कम है, तो राज्य इसकी माँगों की उपेक्षा कर सकता है। इस संदर्भ में यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस समाज में लोग सिर्फ़ सरकार से तदर्थ छूटों की माँग नहीं करते हैं, बल्कि वे 'उत्तम-जीवन' की एक संकल्पना के साथ जीते हैं।

इसलिए लोकतांत्रिक गतिविधियों, कई जनसंगठनों या माओवादियों की गतिविधियों और रोज़मर्रा के जीवन में क़ानून का सामना होने कारण जंगल में या इसके क़रीब रहने वाले लोगों में क़ानून और अपने अधिकारों के बारे में एक जागरूकता आयी है। आदिवासी इलाक़ों में ज़मीनी स्तर से उभरे क़ानूनवाद ने ही लोगों को पेसा और वन अधिकार क़ानून जैसे प्रगतिशील क़ानूनों की माँग करने के लिए प्रेरित किया है। यहाँ यह ध्यान देने की ज़रूरत है कि ये क़ानून आंदोलनों की इच्छा के अनुसार सामने नहीं आये। दोनों ही क़ानूनों में राज्य ने काफ़ी कटौतियाँ कीं। इन कटौतियों का

[92] भूरिया समिति में होने वाले विचार-विमर्श में यह बात सामने आयी कि आदिवासियों के हक़ों को नकारने के कारण ही इन क्षेत्रों में माओवाद का प्रसार हुआ है. देखें, डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा (2005) : 60; इसी तरह, वन अधिकार क़ानून के संदर्भ में भी कई मर्तबा यह तर्क दिया गया कि आदिवासी इलाक़ों में माओवाद का प्रसार इसलिए हो रहा है क्योंकि आदिवासियों के पास अपनी जीविका के लिए कोई संसाधन नहीं है. विभिन्न सरकारी रिपोर्टों में भी इस बात पर ज़ोर दिया गया कि नक्सलियों की उग्रपंथी गतिविधियों से निपटने के लिए ज़रूरी है कि वन भूमि और संसाधनों पर आदिवासियों को अधिकार दिया जाए; देखें गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2008), *डिवेलपमेंट चैलेंजिज़ इन द एक्सट्रीमिस्ट अफ़ेक्टेड एरियाज़ : रिपोर्ट ऑफ़ ऐन एक्सपर्ट ग्रुप टू प्लानिंग कमीशन,* प्लानिंग कमीशन, नयी दिल्ली.

मुख्य कारण यह है कि हाशिया समाज की गोलबंदी तुलनात्मक रूप से सीमित थी। अर्थात् लोगों में गोलबंदी कम होने के कारण वे अपनी माँगों के हिसाब से क़ानून नहीं बनवा पाये। इससे यह भी स्पष्ट है कि जंगल के पूरे इलाक़े में 'हाशिया समाज' का उभार नहीं हुआ। यह उभार उन्हीं क्षेत्रों में हुआ जहाँ आदिवासी संगठनों ने लोगों के साथ जुड़कर काम किया।

V

निष्कर्ष

बहुत से अध्ययनों से यह बात सामने आयी है कि राज्य ख़ुद ही इन दो क़ानूनों का उल्लंघन कर रहा है। पेसा की तक़रीबन पूरी तरह से उपेक्षा की गयी है। पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में इसे औपचारिक तौर पर लागू किया गया है। लेकिन राज्य ने भूमि अधिग्रहण के लिए ग्राम सभा के परामर्श जैसे इसके प्रावधानों का उल्लंघन किया है। इन इलाक़ों में अधिकांश मौकों पर राज्य ने कॉरपोरेट पूँजीपतियों का रास्ता आसान बनाने के लिए पेसा की उपेक्षा की है।[93] वन अधिकार क़ानून में मिले व्यक्तिगत वन अधिकार आंशिक रूप से लागू किये गये हैं, लेकिन इसके सामुदायिक वन अधिकारों की उपेक्षा ही हुई है। कई जगहों पर वन विभाग ने इसके लागू होने में रोड़े अटकाये हैं।[94] इसके अलावा, कॉरपोरेट पूँजी की मदद के लिए जंगल के इलाक़ों में राज्य ने आदिवासियों के ख़िलाफ़ 'सलवा जुडूम' और 'ऑपरेशन ग्रीन हंट' जैसे क़दमों का सहारा भी लिया है।[95] इन सब बातों से अक्सर यह तर्क सामने आता है कि दरअसल 'प्रगतिशील' क़ानूनों की बात निरर्थक है, और राज्य अपने क्रूर रूप में आदिवासियों का दमन कर रहा है। लेकिन मेरा यह तर्क है कि इन क़ानूनों की उपेक्षा या इन्हें आंशिक रूप से लागू किये जाने के आधार पर इनके लिए चलने वाले संघर्षों को ख़ारिज नहीं किया जाना चाहिए।

दरअसल, इन क़ानूनों के लिए संघर्ष ने लोगों में राजनीतिक जागरूकता और अपने हक़ की समझ को बढ़ाया है। इसी कारण, बहुत सी जगहों पर लोग इन क़ानूनों को आधार बनाकर अपने हक़ के लिए संघर्ष कर रहे हैं (मसलन पोस्को प्रतिरोध); कई जगहों (मसलन नियमगिरी) से उन्होंने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को वापस जाने के लिए मजबूर किया है। इसके अलावा, ये इन क़ानूनों को सही तरीक़े से लागू करने के लिए भी संघर्ष कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में इन क़ानूनों ने वनवासी लोगों को 'ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद' के लिए सक्रिय किया है और ये जीविका और उत्तम जीवन के उनके संघर्ष का साधन भी बने हैं।[96] स्पष्ट तौर पर, इन समूहों ने सिर्फ़ 'प्रगतिशील' क़ानूनों के लिए संघर्ष ही नहीं किया, बल्कि अब वे इन क़ानूनों का उपयोग राज्य की मनमानी नीतियों के ख़िलाफ़ भी कर रहे हैं।

---

93 नंदिनी सुंदर (2011).

94 गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010). *मंथन : रिपोर्ट ऑफ़ नेशनल कमिटी ऑन फ़ॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट, दिसम्बर 2010, अ ज्वाइंट कमिटी ऑफ़ मिनिस्ट्री ऑफ़ फ़ॉरेस्ट ऐंड मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स,* मिनिस्ट्री ऑफ़ फ़ॉरेस्ट ऐंड मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफेयर्स, नयी दिल्ली; पीयूडीआर और अन्य (2006), *व्हेयर स्टेट मेक्स वॉर ऑन इट्स ओन पीपुल : अ रिपोर्ट ऑन वायलेशन ऑफ़ पीपुल्स राइट्स ड्यूरिंग द सलवा जुडूम कैम्पेन इन दाँतेवाड़ा, छत्तीसगढ़,* दिल्ली, अप्रैल; कौंसिल फ़ॉर सोशल डिवेलपमेंट (2010), *रिपोर्ट ऑन द नेशनल सेमिनार ऑन द शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड ट्रेडिशनल फ़ॉरेस्ट ड्वैलर्स (रेकॅग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स) एक्ट 2006: प्रॉब्लम्स ऐनकाउंटर्ड ऐंड वेज़ टू ओवरकम देम,* अप्रैल 26-27; पर्सवेक्टिव्ज़ (2012), 'फ़ियर ऐंड फ़्यूरी इन द फ़ॉरेस्ट : स्ट्रगल ओवर कॉमन्स इन हरदा, मध्य प्रदेश', *कम्युनिटीज़, कॉमन्स ऐंड कॉरपोरेशंस,* जनवरी.

95 सलवा जुडूम और ऑपरेशन ग्रीन हंट के बारे में जानकारी के लिए देखें, पीयूडीआर और अन्य (2006); नंदिनी सुंदर (2006), 'बस्तर, माओइज़म ऐंड सलवा जुडूम', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 41, अंक 59; गौतम नवलखा (2012); सीडीआरओ (2012).

96 इन पहलुओं की ज़्यादा विस्तार से समझ के लिए देखें, कमल नयन चौबे (यंत्रस्थ) : अध्याय 5.

संदर्भ

अखिलेश्वर पाठक (1994), *कंटेस्टिड डोमेंस : द स्टेट, पेज़ेन्ट्स ऐंड फ़ॉरेस्ट्स इन कंटेम्परी इंडिया,* सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.

—— (2002), *लॉ, स्ट्रेटजीज़ ऐंड आइडियॉलॅजीज़ : लेजिस्लेटिंग फ़ॉरेस्ट्स इन कोलोनियल इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिविर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

अमरीन रोसेनक्राँन और शरद चंद्र लेले (2008), 'सुप्रीम कोर्ट ऐंड इंडियाज़ फ़ॉरेस्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 43, अंक 5.

अमिता बाविस्कर (1993), *इन बेली ऑफ़ द रिवर : ट्राइबल कॉफ़्लिक्ट ओवर डिवेलपमेंट इन नर्मदा वैली,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

अर्चना प्रसाद (2007) 'सर्वाइवल ऐट स्टेक', *फ्रंटलाइन,* खण्ड 23, अंक 26: 4.

आराधना शर्मा, और अखिल गुप्ता (2006), 'इंट्रोडक्शन', ए. शर्मा और ए. गुप्ता (सम्पा.), द *एंथ्रोपोलॅजी ऑफ़ द स्टेट : अ रीडर,* ब्लैकवेल, एम.ए.

आशीष कोठारी (2005) 'बंगाल इन द जंगल', *सेमिनार 552.*

आशीष कोठारी (2006), 'मिस द ट्रीज़ फ़ॉर द वुड', द *हिंदुस्तान टाइम्स,* दिल्ली, 2 जून.

इंडियन सोशल एक्शन फ़ोरम (2009), *स्वतंत्र जन पंचाट, झारखण्ड में वर्तमान विकास, विस्थापन और दमन पर एक रिपोर्ट, 7 और 8 फरवरी 2009,* राँची, झारखण्ड, भारत.

इंद्रा मुंशी *(2005),* 'शेड्यूल्ड ट्राइब्स बिल, 2005', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 50, अंक 41.

ई.पी. स्टेबिंग (1926), *द फ़ॉरेस्ट्स ऑफ़ इंडिया,* खण्ड 3, जॉन लेन, लंदन.

उपेन्द्र बख़्शी (1992), '"द स्टेट्स इमिसरी" : द प्लेस ऑफ़ लॉ इन सबॉल्टर्न स्टडीज़', पार्थ चटर्जी और ज्ञानेन्द्र पांडेय (सम्पा.), *सबाल्टर्न स्टडीज़ : राइटिंग्स ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड सोसायटी,* खण्ड 7, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

उल्लास कारंत और प्रवीण भार्गव (2005), 'डि-फ्रैग्मेंटिंग नेचर', *सेमिनार* 552.

एम.डी. मधुसूदन (2005), ऑफ़ राइट्स ऐंड रॉन्स : वाइल्ड लाइफ़ कंज़रवेशन ऐंड द ट्राइबल बिल', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 47.

एल.के. झा (1992), *इंडियाज़ फ़ॉरेस्ट पॉलिसीज़,* नई दिल्ली, आशीष.

कमल नयन चौबे (2010), *भारत में आदिवासियों के वन भूमि अधिकारों का अध्ययन,* अप्रकाशित पीएच.डी.शोध, राजनीति विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.

—— (यंत्रस्थ), *जंगल की हक़दारी : राजनीति और संघर्ष,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

केरॅल उपाध्या (2009), 'लॉ कस्टम ऐंड आइडेंटिटी : पॉलिटिक्स ऑफ़ लैंड राइट्स इन छोटा नागपुर', संकलित, नंदिनी सुंदर (सम्पा.), *लीगल ग्राउंड्स : नैचुरल रिसोर्सिज़, आइडेंटिटी ऐंड लॉ इन झारखण्ड,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

के.एस. सिंह (1983 क), *ट्राइबल मूवमेंट इन इंडिया,* खण्ड 2, मनोहर, नई दिल्ली.

—— (1983 ख), *बिरसा मुंडा ऐंड हिज़ मूवमेंट 1874-1901 : अ स्टडी ऑफ़ मिलेनेरियन मूवमेंट इन छोटानागपुर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता.

के.बी. सक्सेना (2008), 'डिवेलपमेंट, डिस्प्लेसमेंट ऐंड रज़िस्टेंस : द लॉ एण्ड द पॉलिसी ऑफ़ लैंड एक्विज़ीशन', *सोशल चेंज : जरनल ऑफ़ कौंसिल फ़ॉर सोशल डिवेलपमेंट,* खण्ड 38, अंक 3.

के. शिवरामकृष्णन (1995), 'कोलोनियलिज़म ऐंड फ़ॉरेस्ट्री इन इंडिया : इमैजिनिंग द पास्ट इन प्रज़ेंट पॉलिटिक्स', *कॉम्पेरेटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री,* खण्ड 37, अंक 1.

कैम्पेन फ़ॉर सर्वाइवल ऐंड डिग्निटी (कैम्पेन) (2004), *एन्डेन्जर्ड सिम्बायोसिस : इविक्शंस ऐंड इंडियाज़ फ़ॉरेस्ट कम्युनिटीज़, रिपोर्ट ऑफ़ द जन सुनवाई, जुलाई 19-20, 2003,* नई दिल्ली.

कोऑर्डिनेशन ऑफ़ डेमॉक्रैटिक राइट्स ऑर्गनाइज़ेशंस (सीडीआरओ) (2011), *लूट ऑफ़ द लैंड, लाइवली हुड ऐंड लाइफ़ : अ ज्वाइंट फैक्ट फ़ाइंडिंग इन द इंसिडेंट ऑफ़ क्राइम अगेंसट पीपुल ऑफ़ उड़ीसा,* दिल्ली, अक्टूबर.

—— (2012), *आतंक के साये में आम झारखण्डी : झारखण्ड के सुदूर गाँवों में जनसंघर्ष और सैन्य दमन,* सितम्बर.

कौंसिल फ़ॉर सोशल डिवेलपमेंट (2010), *रिपोर्ट ऑन द नेशनल सेमिनार ऑन द शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड ट्रेडिशनल फ़ॉरेस्ट ड्वैलर्स (रेकॅग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स) एक्ट 2006 : प्रॉब्लम्स ऐनकाउंटर्ड ऐंड वेज़ टू ओवरकम देम,* अप्रैल 26-27.

गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (1952), *रेज़ोल्यूशन ऑन द नेशनल फ़ॉरेस्ट पॉलिसी,* मैनेजर ऑफ़ पब्लिकेशंस, शिमला.

—— (1972), *वाइल्ड लाइफ़ (प्रोटेक्शन) ऐक्ट,* मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस, नई दिल्ली.

—— (1980), *फ़ॉरेस्ट (कंज़रवेशन) ऐक्ट,* मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस, नई दिल्ली.

—— (1996), *द प्रोविज़िंस ऑफ़ पंचायत्स (एक्सटेंशन टू शेड्यूल्ड एरियाज़) एक्ट 1996, मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस,* नई दिल्ली.

—— (2005 क), *शेड्यूल्ड ट्राइब्स (रेकॅग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स बिल)2005,* मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स.

—— (2005 ख), *शेड्यूल्ड ट्राइब्स (रेकॅग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट बिल) 2005, बिल नंबर 158 ऑफ़ 2005,* मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स.

—— (2007), *शेड्युल्ड् ट्राइब्स ऐंड अदर ट्रेडिशनल फ़ॉरेस्ट ड्वेलर्स (रेकॅग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स) एक्ट 2006,* मिनिस्ट्री ऑफ़ लॉ ऐंड जस्टिस.

—— (2008), *डिवेलपमेंट चैलेंजिज़ इन द एक्सट्रीमिस्ट अफ़ेक्टेड एरियाज़ : रिपोर्ट ऑफ़ इन एक्सपर्ट ग्रुप टू प्लानिंग कमीशन,* प्लानिंग कमीशन, नई दिल्ली.

—— (2010), *मंथन : रिपोर्ट नेशनल कमिटी ऑन फ़ॉरेस्ट राइट्स एक्ट, दिसम्बर 2010, अ ज्वाइंट कमिटी ऑफ़ मिनिस्ट्री ऑफ़ फ़ॉरेस्ट ऐंड मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स,* मिनिस्ट्री ऑफ़ फ़ॉरेस्ट ऐंड मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स, नई दिल्ली

गौतम नवलखा (2008), 'क्रिटिकल एप्रीसिएशन ऑफ़ प्लानिंग कमीशन एक्सपर्ट ग्रुप रिपोर्ट ऑन

एक्स्ट्रीमिज़म', *सोशल चेंज : जर्नल ऑफ़ द कौंसिल ऑफ़ सोशल डिवेलपमेंट, :* 38, नंबर 3.

—— (2012), *डेज़ ऐंड नाइट्स इन द हार्टलैंड ऑफ़ रिबेलियन,* पेंगुइन बुक्स, दिल्ली.

गाँव गणराज्य डायरी (2005), सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट, नई दिल्ली.

छत्रपति सिंह (1986), *कॉमन प्रॉपर्टी ऐंड कॉमन पॉवर्टी : इंडियाज़ फ़ॉरेस्ट्स, फ़ॉरेस्ट ड्वेलर्स ऐंड द लॉ,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

जूलिया एकर्ट (2006), 'फ़्रॉम सब्जेक्ट्स टू सिटिज़ंस : लीगलिज़म फ़्रॉम बिलो ऐंड द होमोजनाइज़ेशन ऑफ़ लीगल स्फ़ियर', *जर्नल ऑफ़ लीगल प्लूरलिज़्म,* अंक 53-54.

जेपीसी की रिपोर्ट (2006), *ज्वाइंट कमिटी ऑन द शेड्यूल्ड ट्राइब्स (रिकॅग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स) बिल, 2005 : रिपोर्ट ऑफ़ द ज्वाइंट कमिटी,* लोकसभा सेक्रेटेरियट, नई दिल्ली.

जेम्स सी. स्कॉट (1998), *सीइंग लाइक अ स्टेट : हाउ सर्टेन स्कीम्स टु इम्प्रूव द ह्युमन कंडीशंस हैव फेल्ड,* येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवेन ऐंड लंदन.

जे.एल. कोमारॉफ़ और जे. कोमारॉफ़ (2006), 'लॉ ऐंड डिसॉर्डर इन द पोस्ट-कोलोनी : ऐन इंट्रोडक्शन', जे.एल. कोमॉराफ़ और जे. कोमारॉफ़ (सम्पा.), *लॉ ऐंड डिसऑर्डर इन पोस्ट-कोलोनी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

ज़ाक डेरिडा, (1992), 'फ़ोर्स ऑफ़ लॉ : द मिस्टिकल फ़ाउंडेशन ऑफ़ अथॉरिटी' (अनुवाद : मैरी क्वेन्टेंस), डूसिला कॉरनेल, मिशेल रोसनेफ़ील्ड और डेविड ग्रे कॉल्सन (सम्पा.), *डिकंस्ट्रक्शन ऐंड द पॉसिबिलिटी ऑफ़ जस्टिस,* रौटलेज, न्यू यॉर्क.

डब्लू. फ़र्नांडिस और वी. परांजपे (सम्पा.) 1997, *रिहैबिलिटेशन पॉलिसी ऐंड द लॉ इन इंडिया : अ राइट टू लाइवलीहुड,* आईएसआई, पुणे.

डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा (2001) , *पाँचवीं अनुसूची,* सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट, नई दिल्ली.

—— (2005), *आदिवासी क्षेत्र किस ओर? : सांविधानिक संशोधन भूरिया समिति रिपोर्ट और उसके आगे...,* सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट, नई दिल्ली.

डेविड आर्नाल्ड (1982), 'रिबेलियस हिलमेन : द गुदेम-रम्पा राइजिंग्स 1839-1924', संकलित रणजीत गुहा (संपा), *सबाल्टर्न स्टडीज़ I : राइटिंग्स इन द साउथ एशियन हिस्ट्री ऐंड सोसाइटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

देबी गोयनका (2005), 'ए नॉन सोल्यूशन' *सेमिनार* 552.

नवीन थाईल (2009), 'जुडिशियल फ़िएट ऐंड कंटेम्पररी ऐनक्लोज़र्स', *कंज़रवेशन ऐंड सोसायटी,* खण्ड 7, अंक 4.

नंदिनी सुंदर (1997), *सबॉल्टर्न्स ऐंड सोवरेस : ऐन एंथ्रोपोलॅजिकल हिस्ट्री ऑफ़ बस्तर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

—— (2006), 'बस्तर, माओइज़म ऐंड सलवा जुडूम', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 41, अंक 59.

—— (2009क), 'लॉ, पॉलिसिज़ ऐंड प्रैक्टिसेज़ इन झारखण्ड', नंदिनी सुंदर (सम्पा.) *लीगल ग्राउंड्स : नैचुरल रिसोर्सेज, आइडेंटिटी एंड लॉ इन झारखण्ड,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

—— (2009ख), 'फ़्रेमिंग द पॉलिटिकल इमेजिनेशन : कस्टम, डेमॉक्रैसी ऐंड सिटिज़नशिप', संकलित, नंदिनी सुंदर (सम्पा.) *लीगल ग्राउंड्स : नैचुरल रिसोर्सेज, आइडेंटिटी एंड लॉ इन झारखण्ड, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस,* नई दिल्ली.

—— (2011), 'द रूल ऑफ़ लॉ ऐंड प्रॉपर्टी : लॉ स्ट्रगल्स ऐंड नियो-लिबरल स्टेट इन इंडिया', अखिल गुप्ता और के. शिवरामकृष्णन (सम्पा.), *स्टेट इन इंडिया ऑफ़्टर लिबरलाइज़ेशन,* रॉटलेज, लंदन.

निकोलास पोलंतास (1978), *स्टेट, पावर ऐंड सोशलिज़्म* (अनुवाद : पैट्रिक कैमिलर), न्यू लेफ़्ट बुक्स, लंदन.

नैंसी फ्रेजर (1999), 'द फ़ोर्स ऑफ़ लॉ : मेटाफ़िज़िकल ऑर पॉलिटिकल', मैनफ्रेड बी. स्टेजर और नैंसी एस. लिंड (सम्पा.), *वायलेंस ऐंड इट्स ऑल्टनेटिव्स : ऐन इंटडिस्पिलिनरी रीडर,* मैकमिलन प्रेस लिमिटेड, लंदन.

पर्सपेक्टिव्ज़ (2012), 'फ़ियर ऐंड फ़्यूरी इन द फ़ॉरेस्ट : स्ट्रगल ओवर कॉमन्स इन हरदा, मध्य प्रदेश', *कम्युनिटीज, कॉमन्स ऐंड कॉरपोरेशन्स,* जनवरी.

पार्थ चटर्जी (2004), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ गवर्न्ड : रिफ़्लेक्शंस ऑन द पॉलिटिक्स ऑफ़ मोस्ट ऑफ़ वर्ल्ड,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

(2008), 'डेमॉक्रैसी ऐंड इकनॉमिक ट्रांसफ़ॉर्मेशन इन इंडिया', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 43, अंक 16.

—— (2011), *लीनियेजिज़ ऑफ़ पॉलिटिकल सोसायटी : स्टडीज़ इन पोस्ट-कोलोनियल डेमॉक्रैसीज़,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत;

—— (2012), 'द डिबेट ओवर पॉलिटिकल सोसायटी', अजय गुडुवर्थी (सम्पा), *रिफ़्रेमिंग डेमॉक्रैसी ऐंड एजेंसी इन इंडिया : इंटरोगेटिंग पॉलिटिकल सोसायटी,* एंथेम प्रेस, लंदन.

पी. शंकर (1999), *यह जंगल हमारा है : दण्डकारण्य के क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास,* (अनुवाद— पासंदी निर्मला), न्यू विस्टॉस पब्लिकेशन्स, दिल्ली (हिन्दी संस्करण 2006).

पी.वी. जयकृष्णन (2005), 'इज़ देयर अ नीड फ़ॉर दिस बिल ?' *सेमिनार* 552.

पीयूडीआर और अन्य (2006), *व्हेयर स्टेट मेक्स वॉर ऑन इट्स ओन पीपुल : अ रिपोर्ट ऑन वायलेशन ऑफ़ पीपुल्स राइट्स ड्यूरिंग द सलवा जुडूम कैम्पेन इन दाँतेवाड़ा, छत्तीसगढ़,* दिल्ली, अप्रैल.

प्रदीप प्रभु (2005), 'द राइट टू लीव विद डिग्निटी', *सेमिनार 552.*

फ़ॉरेस्ट डायलॉग सेमिनार (2005), *प्रेस रिलीज़,* आयोजन स्थल- दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकोनॉमिक्स, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 23-24 सितम्बर.

भारत का संविधान (2008), द्विभाषी संस्करण, चौथा संस्करण, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद.

भारत सरकार (1989), *अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की रिपोर्ट,* उनतीसवीं रिपोर्ट, नई दिल्ली.

बेला भाटिया (2005), *'कम्पीटिंग कंसर्न्स', इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 47.

बेला भाटिया, नंदिनी सुंदर और वर्जीनीयस खाखा (2005), 'शेड्यूल्ड ट्राइब्स बिल 2005', *इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड* 40, नंबर 43.

बी.के. रायबर्मन, 2004., 'ऐनालिटिकल अप्रेज़ल ऑफ़ द पंचायत (एक्सटेंशन टू द शेड्यूल्ड एरियाज़) ऐक्ट 1996', *मेनस्ट्रीम,* दिसम्बर 15.

बी.डी. शर्मा (2004), *द लिटिल लाइट्स इन टायनी मड-पॉट्स डिफ़ाय 50 इयर्स ऑफ़ एंटी पंचायत राज,* सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट, नई दिल्ली (प्रथम प्रकाशन 1998).

बी. रिबेनट्रॉप (1900), *फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश इंडिया,* कलकत्ता.

माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा (1992), *दिस फ़िशर्ड लैंड : ऐन इकोलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस , नई दिल्ली.

—— (1995), *इकॉलजी ऐंड एक्विटी, यूनाइटेड नेशन्स रिसर्च इंस्टीटयूट ऑफ़ सोशल डेवलपमेंट,* ऑक्सफ़र्ड इंडिया पेपरबैक्स 2004, नई दिल्ली.

मधु सरीन (2005), 'शेड्यूल्ड ट्राइब्स बिल 2005 : अ कमेंट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 21.

महेश रंगराजन (1996), *फेंसिंग द फ़ॉरेस्ट : कंज़रवेशन ऐंड इकोलॅजिकल चेंजेस इन इंडियाज़ सेन्ट्रल प्रोविन्सेज़ 1860-1914,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

माधुरी कृष्णास्वामी (2005), 'वन स्टेप फ़ॉरवर्ड, टू स्टेप्स बैकवर्ड', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 47.

रजनी कोठारी (1984), 'द नॉन पार्टी पॉलिटिकल प्रॉसिस', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 19, अंक 5.

रणजीत गुहा (1963), *अ रूल ऑफ़ प्रॉपर्टी फ़ॉर बंगाल : ऐन ऐसे ऑन द आइडिया ऑफ़ परमानेंट सेटलमेंट,* मुत्तोह ऐंड कंपनी, पेरिस.

—— (1987), 'चंद्राज़ डेथ', रणजीत गुहा (सम्पा.), सबॉल्टर्न स्टडीज़, खण्ड 5, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी, दिल्ली.

रामचंद्र गुहा (1983क), 'फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट-ब्रिटिश इंडिया : अ हिस्टोरिकल ऐनालिसिस', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 18, अंक 44.

—— (1983ख), 'फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट-ब्रिटिश इंडिया : अ हिस्टोरिकल ऐनालिसिस', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 18, अंक 45.

—— (1989), *द अनक्वायट वूड्स : इकोलॉजिकल चेंज ऐंड पीजेंट रेसिस्टेंस इन द हिमालया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

रामचंद्र गुहा और माधव गाडगिल (1989), 'स्टेट फ़ॉरेस्ट्री ऐंड सोशल कांफ़्लिक्ट इन ब्रिटिश इंडिया', *पास्ट ऐंड प्रेज़ेंट,* खण्ड CXXIII.

राहुल पंडिता (2011), *हेलो बस्तर : द अनटोल्ड स्टोरी ऑफ़ इंडियाज़ माओइस्ट मूवमेंट,* ट्राँक्वेबरे, दिल्ली.

रिचर्ड ग्रोव (1995), *ग्रीन इम्पीरियलिज़म : कोलोनियल एक्शपैंशन, ट्रॉपिकल आइलैण्ड इडेन्स ऐंड द ओरिज़न्स ऑफ़ ऐनवायरमेंटलिज़म, 1600-1860,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

रिचर्ड ग्रोव, विनीता दामोदरन और सतपाल सांगवान (सम्पा) (1998), *द नेचर ऐंड द ओरिएंट,* ऑक

सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

ऋताम्भरा हेब्बार (2006), 'फ़ॉरेस्ट बिल 2005 ऐंड ट्राइबल एरियाज़ : केस ऑफ़ झारखण्ड', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 41, नंबर 48,* 2 दिसम्बर.

वंदना शिवा और जयंती बंद्योपाध्याय (1986), *चिपको : इंडियाज़ सिविलाइज़ेशनल रिस्पांसेज़* टू द *फ़ॉरेस्ट क्राइसिस,* नटराज, नई दिल्ली.

वीणा दास और डेब्रा पुल (सम्पा.) (2004), *एंथ्रोपोलॉजी इन द मारजिंस ऑफ़ स्टेट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली

वेलुथायम सरवनन (2009), 'पॉलिटिकल इकनॉमी ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट 2006 : कांफ्लिक्ट बिटवीन ऐनवायरनमेंट ऐंड ट्राइबल डिवेलपमेंट', *साउथ एशिया रिसर्च,* खण्ड 29, अंक 3.

शरद कुलकर्णी (1987) 'फ़ॉरेस्ट लेजिस्लेशन ऐंड ट्राइबल्स : कॉमेंट्स ऑन फ़ॉरेस्ट पॉलिसी रेज़ोल्यूशन', इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 22, अंक 50: 2143-48; अखिलेश्वर पाठक (1994).

सव्यसाची (1998), *ट्राइबल फ़ॉरेस्ट-ड्वेलर्स ऐंड सेल्फ़ रूल : द कांस्टीट्युएंट असेम्बली डिबेट ऑन द फ़िफ़्थ ऐंड सिक्स्थ शेड्यूल्स,* इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट, दिल्ली.

—— (2010), 'एफ़आरए 2006 : इन हूज़ इंटरेस्ट?', *सोशल एक्शन : अ क्वाटर्ली रिव्यू ऑफ़ सोशल ट्रेंड्स,* खण्ड 60, अंक 2.

—— (2011), 'फ़ॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट 2006 : अंडरमाइनिंग द फ़ाउंडेशनल पोज़ीशन ऑफ़ द फ़ॉरेस्ट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 46, अंक 15.

संजय निगम (1990), ''डिसिप्लिनिंग ऐंड पुलिसिंग द 'क्रिमिनल बाई बर्थ' : द मेंकिग ऑफ़ कोलोनियल स्टीरियोटाइप— द क्रिमिनल ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ़ नॉर्थ इंडिया'', *इंडियन इकनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* खण्ड 27, अंक 2.

सी.आर बिजोय (1999), 'आदिवासीज़ बिट्रेड : आदिवासी लैण्ड राइट्स इन केरला', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 34, अंक 22.

सी.जे. फ़ुलर, और वेरेनिक बेनई (सम्पा.) (2000), द *एवरेडी स्टेट ऐंड सोसाइटी इन मॉडर्न इंडिया,* सोशल साइंस प्रेस, नई दिल्ली.

सुंदरलाल बहुगुणा (1983), *वर्किंग विद द चिपको मेसिज़,* नवजीवन आश्रम, सिलयारा, टिहरी गढ़वाल.

—— (1987), द *चिपको : अ पीपुल्स मूवमेंट इन हिमालयन हेरीटेज,* ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

श्रीशा नायडू (2011), 'द पोटेंशियल ऑफ़ द फ़ॉरेस्ट राइट्स ऐक्ट', 29 जनवरी, वेब पता : http://sanhati.com/excerpted/xv~|/, 22 जून 2011 को देखा गया;.